देखी सुनी

वर्ष 2010, अंक 13

" तू ज़िन्दा है तो ज़िन्दगी की जीत पर यकीन कर.... "

प्रिय साथियों !

अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस की हार्दिक शुभकामनायें।

इस बार के अंक में हम लेकर आयें हैं महिला सशक्तिकरण, महिला आरक्षण विधेयक, स्वास्थ्य, बेघर व उनकी आश्रय गृह संबन्धित समस्यायें, सेना में महिलाओं की चुनौती, सम्मान हत्याओं का नकाब व भंवरी देवी और उनका ज़ारी संघर्ष। आशा करते हैं आपको महिला अधिकारों, संघर्ष व जीत की झलकियों की माला, महिला दिवस के मौके पर सार्थक प्रयास लगेगा। कृप्या अपने प्रयास के मूल्यांकन के लिये हमें अपने प्रतिक्रिया अवश्य भेजें।

नीतू रौतेला
जागोरी संदर्भ समूह

रचनाकार – शिबा चाची, बिंदिया थापर व कमला भसीन
निर्माता – जागोरी व संगत

छलांग से आगे

आधी दुनिया
मृणाल वल्लरी

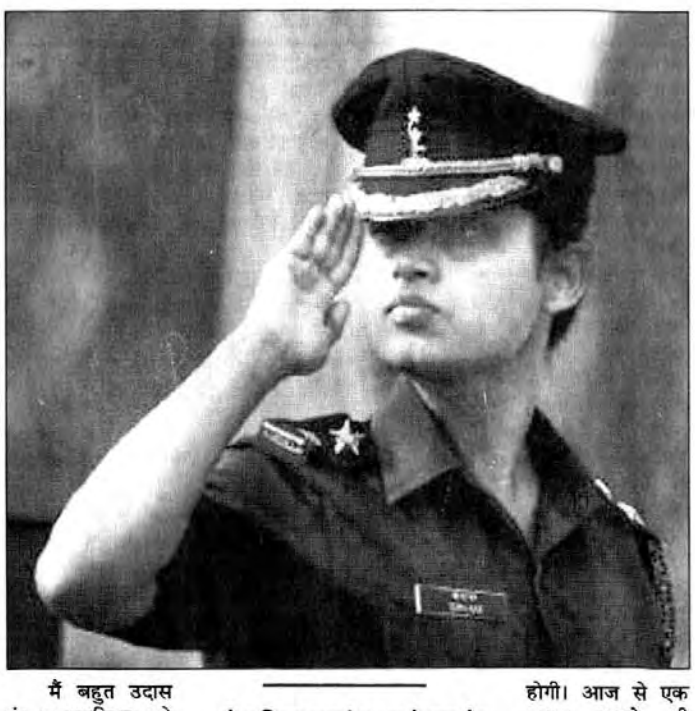

अभी-अभी बीता साल भारतीय गणंतत्र के इतिहास में इस लिहाज से यादगार रहा क्योंकि इस साल देश की राष्ट्रपति, लोकसभा अध्यक्ष, सत्ता पक्ष की संसदीय दल की नेता और विपक्ष की नेता के पद पर महिलाएं काबिज हुईं। अब इन महिला प्रतिनिधियों को सिर्फ टोकन पद पर बैठी महिलाएं कह कर खारिज नहीं किया जा सकता। ये सभी सत्ता के गलियारों में अपनी दमदार मौजूदगी दर्ज करा चुकी हैं। जो सोनिया गांधी कभी नेहरू-गांधी परिवार की डमी नेता कही जाती थीं, आज भारतीय राजनीति में उनकी हैसियत 'किंग मेकर' की है। जो महिला आरक्षण बिल कभी संसद के अंदर फाड़ दिया गया था, वह अब स्थायी समिति से पास होकर संसद में चर्चा के लिए आ गया है। यानी हो सकता है कि 2010 के संसद के सत्र में यह बहुप्रतीक्षित बिल भी पास हो जाए। ऐसा हुआ तो इसका प्रभाव आने वाले समय में महिलाओं की स्थिति को मजबूत करने में होगा।

जब प्रतिभा पाटील ने भारतीय गणतंत्र के कप्तान की कमान संभाली तो आलोचकों ने कहा कि ऐसे टोकन पदों से भारतीय राजनीति में महिलाओं की स्थिति मजबूत नहीं हो सकती। लेकिन आने वाले समय में यह टोकन पद ही मील का पत्थर साबित होने जा रहा है।

जब भारतीय वायुसेना के एक अधिकारी मीडिया के सामने लड़ाकू विमानों की कमान महिला पायलटों के हाथों में देने की मुखालफत कर रहे थे, उसी दौरान चौहत्तर साल की प्रतिभा पाटील सुखोई विमान में हाथ में साड़ी के पल्लू के बजाय हेलमेट पकड़ यह बताने की कोशिश कर रही थीं कि जल्द ही लड़ाकू विमानों की पायलट सीट पर महिलाएं भी बैठेंगी। बीते साल के अंत तक विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका में महिलाओं के सशक्त दखल ने अपना असर दिखाना शुरू कर दिया है। महिलाओं की संसद में मौजूदगी की वजह से ही यह संभव हो सका कि महिला विरोधी फैसले का विरोध संसद के भीतर भी होने लगा।

बीते साल के अंत में रुचिका मामले में एक पूर्व डीजीपी राठौड़ को महज छह महीने की सजा का फैसला सबको चौंका गया। लेकिन अदालत के फैसले के साथ ही यह मामला ठंडा नहीं पड़ गया। इस मामले में शिकायत करने वाली और अपनी सहेली के लिए लंबी जंग लड़ने वाली अनुराधा प्रकाश ने अदालत के अंदर कहा- राठौर जैसे अपराधी को सजा हुई, बहुत अच्छा हुआ। हमारे संघर्ष और राठौड़ के अपराध का न्यायपालिका ने सही हिसाब किया, लेकिन इस अपराध को अपनी अस्मिता पर झेलने वाली रुचिका ने जान दे दी थी और उसकी कीमत महज छह महीने।

मैं बहुत उदास हूं। न्यायपालिका को ऐसा करारा जवाब देकर एक महिला ने अपना फर्ज पूरा किया। वहीं एक दूसरी महिला विधायिका में अपना फर्ज पूरा कर रही थी। माकपा सांसद वृंदा करात ने फैसला आते ही राज्यसभा में यह मामला उठाया। उन्होंने न्यायिक प्रक्रिया में सुधार के लिए संसद में आवाज बुलंद की तो इस मामले पर उनकी मुखालफत करने का साहस कोई नहीं कर पाया।

ये महिला सरपंच अपने घर के मर्दों की छाया भर नहीं हैं। ये पंचायत स्तर पर राजनीति का ककहरा सीख संसद में स्त्री सशक्तिकरण का नया इतिहास लिखने की ओर कदम बढ़ा रही हैं।

यह सही है कि रुचिका और अनुराधा जैसी महिलाओं को पूरा इंसाफ नहीं मिल पाया। यों इस तरह की नाइंसाफियां हमारे लोकतंत्र में कोई नई बात नहीं है। लेकिन इनके खिलाफ महिलाओं ने आवाज बुलंद कर अपनी जमीन जिस तरह पुख्ता कर ली है, उससे यह भरोसा जरूर पैदा होता है कि अब न्यायपालिका इस तरह के फैसले नहीं दे पाएगी। सच तो यह है कि महिला सशक्तीकरण का रास्ता तब तक पूरी तरह साफ नहीं हो सकता, जब तक विधायी और न्यायिक प्रणालियों में उनकी दमदार पैठ नहीं होगी। आज से एक दशक पहले भी महिलाएं सारे काम करती थीं। लेकिन यह मर्दवादी समाज उन्हें एक बेगार मजदूर की तरह देखता था। एक ऐसी मजदूर जो दुनिया का हर काम तो कर सकती है, लेकिन अपने फैसले खुद नहीं ले सकती है। इसी तरह पूरे देश में भी महिलाओं की हैसियत घर जैसी ही बना दी गई थी। पुरुष वर्चस्व की अर्थव्यवस्था में बांदी जैसा वजूद लेकर घर की चारदीवारी से कार्यस्थलों के घेरे में तो महिलाएं अस्सी के दशक में पहुंच गई थीं। लेकिन फैसले लेने और लागू करने वाली संस्थाओं तक महिलाओं की पहुंच नहीं थी। इस वजह से घरों की चारदीवारी के साथ कार्यस्थलों में भी उनका शोषण शुरू हुआ। लेकिन जैसे-जैसे विधायिका और कार्यपालिका में महिलाओं का दबदबा हुआ उसका सीधा असर अर्थ और सेवा क्षेत्र में पड़ा।

शायद यह पहली बार था जब संसद में मातृत्व अवकाश और पालना घर का मुद्दा गूंज रहा था। टीवी पर चल रहा वह बजट सत्र काबिलेगौर है जिसमें तत्कालीन वित्त मंत्री पी चिदंबरम साड़ियों और कास्मेटिक्स सस्ते होने के बाबत एलान करने के पहले एक महिला सांसद की ओर देख कर बोले थे कि उनकी अगली घोषणा आपके चेहरे पर मुस्कान ला देगी। यह चिदंबरम का चुटीला अंदाज भर नहीं था। यह एक ऐसी संसद की तस्वीर थी जो महिलाओं को सिर्फ सजने-संवरने और पहनने-ओढ़ने तक ही देख रहा था। लेकिन

अब तस्वीर बदल गई है। महिला सांसद गहने-कपड़े नहीं सीधे न्यायपालिका में सुधार की मांग कर रही हैं। वे संसद की सामंती और पुरुषवादी वर्चस्व को तोड़ रही हैं। महिला सांसद कास्मेटिक्स और गहने सस्ते होने की नहीं बल्कि कार्यस्थलों पर यौन शोषण और समान वेतन की बात कर रही हैं। राष्ट्रपति भवन में देश भर से आई उन महिला संरपंचों को पुरस्कृत किया जा रहा है जिन्होंने अपने पंचायत क्षेत्र में कई तरह की सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ आवाज बुलंद की।

ये महिला सरपंच अपने घर के मर्दों की छाया भर नहीं हैं। ये पंचायत स्तर पर राजनीति का ककहरा सीख संसद में स्त्री सशक्तिकरण का नया इतिहास लिखने की ओर कदम बढ़ा रही हैं। इस ल तक तो महिलाओं ने नियम और कानून बनाने वाली संस्था की ओर कूच किया है।

यह तय है कि इसका असर घर में काम करनेवाली, मिल में मशीन चलानेवाली, निर्माण क्षेत्र में ईंट ढोनेवाली, सेवा क्षेत्र में काम करनेवाली, खेल के मैदानों में मेडल जीतनेवाली महिलाओं पर पड़ेगा। यहां महिला खिलाडियों पर आधारित फिल्म चक दे इंडिया याद आती है। फिल्म में पुरुष राजनेताओं और नौकरशाहों की वर्चस्व वाली समिति महिला हाकी खिलाड़ियों की टीम भेजने से इनकार कर देते हैं। समिति का मानना है कि महिलाओं के हाथों में हाकी की स्टिक नहीं बेलन ही ठीक है। समिति में मौजूद एकमात्र महिला का रवैया भी मर्दवादी हो जाता है।

यह तो फिल्मी कहानी है। लेकिन हमारे देश में कानून बनाने वाले भाग्यविधाता ज्यादातर इसी मानसिकता के हैं। अगर उस खेल समिति में पुरुष सदस्यों के बराबर ही महिला सदस्य भी होतीं तो शायद उन महिला खिलाड़ियों को उतना संघर्ष नहीं करना पड़ता। आज भी हमारे देश में ज्यादातर महिला खिलाड़ी पुरुषवादी नीतियों के कारण अपना हौसला तोड़ देती हैं। उम्मीद है कि बीते साल फैसले लेने वाले जिन पदों तक महिलाओं ने अपनी पहुंच बनाई है वह इस साल महिला सशक्तिकरण का नया इतिहास लिखने में कामयाब होगा। हमारे देश की संसद में ऐसे महिलाओं के हित में फैसले होंगे जो महिलाओं को हर क्षेत्र में सशक्त बनाएंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस

8 मार्च-हमेशा ही अपना दिन मनाने व हमारे संघर्षो में रंगा रहता है। 8 मार्च 1857 को न्यूयार्क में कपड़ा मिल में काम करने वाली महिलाओं ने अपने बेहतर वेतन और कार्यस्थल की बेहतर स्थितियों की मांग को लेकर संघर्ष शुरु किया था। 1908 में दोबारा-15000 महिलाओं ने कुछ और माँगों के साथ-साथ वोट देने के अधिकार की मांग की थी। पहले विश्व युद्ध के दौरान इसी दिन 1913 को-पूरे यूरोप की महिलाओं ने शान्ति मार्च किया था और 1917 के रूसी इन्कलाब को-अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस पर होने वाले प्रदर्शन ने दहला कर रख दिया।

8 मार्च एक ऐसा दिवस है जब हम अपनी ज़िन्दगी में नई ताकत और नया जोश वापस लाते हैं। कई बार लगता है हमारे संघर्ष हमसे बड़े हैं या समाधान हमारी पहुँच से बाहर है। लेकिन जब हम गुस्से से अपनी मुट्ठी बुलन्द करते हैं और विरोध में अपनी आवाजें उठाते हैं तो लोग हमारी बातों को सुनने पर मजबूर हो जाते हैं।

यह एक अच्छा समय है जब हम अपनी कुछ कामयाबियों को याद करते हुए अपनी खुशियों को और बढ़ाएं।

व्यवसायीकरण बनाम मेहनतकशों का दिन

महिला दिवस पर विशेष

डॉ. कुमुदिनी पति

जब तक व्यापक स्तर पर महिलाओं के सरोकार सामाजिक-राजनीतिक सरोकार नहीं बनते, तब तक समाज में मौजूद खाई को पाटना आसान नहीं होगा। महिला आंदोलन को अब एक नया आयाम देने की जरूरत है

महिला दिवस असल में था महिला अधिकारों की लड़ाई का दिन। 1908 में न्यूयॉर्क के कपड़ा उद्योग की श्रमिक महिलाएं 8 घंटे काम, बेहतर कार्य के हालात व मेहनतकश महिलाओं के राजनीतिक अधिकार के लिए संगठित हुईं। फरवरी, 1909 में अमेरिका की सोशलिस्ट पार्टी ने इस संघर्ष को यादगार बनाते हुए मेहनतकश महिलाओं के अधिकारों को लेकर पहली बार 'महिला दिवस' मनाया– यह दिन था 28 फरवरी। 1910 में कोपेनहेगन में समाजवादी महिलाओं के द्वितीय अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन में क्लारा जेटकिन के प्रस्ताव पर विश्व में महिला दिवस मनाया जाने लगा; प्रथम विश्व युद्ध के समय नारा था- 'फॉर ब्रड ऐंड राजेज।' 1975 में संयुक्त राष्ट्र ने भी इसे मान्यता दी।

पैंतीस वर्ष बाद, विश्व में सालाना 15 करोड़ नाबालिगों का यौन उत्पीड़न हो रहा है, 14 करोड़ औरतें जेनाइटल म्यूटिलेशन सहती हैं, 6 करोड़ का बाल विवाह होता है और 64 लाख की खरीद-फरोख्त होती है। अरब देशों में 70 प्रतिशत बलात्कार की रिपोर्ट इसलिए दर्ज नहीं होती कि महिला पर व्यभिचार का आरोप लग जाता है। अफ्रीका की औरतों के लिए गरीबी सबसे अहम मुद्दा है और विश्व के 70 प्रतिशत सबसे गरीब लोग औरतें हैं। फिर, महिला मर्दों से दोगुना बेगारी भी करती है। युद्ध में औरतों को ही सबसे अधिक भुगतना पड़ता है, जैसा कि हम अफगानिस्तान, इराक और फलिस्तीन में देख रहे हैं। आज महिला दिवस क्या विश्व की इन महिलाओं की एकता को प्रदर्शित करता है?

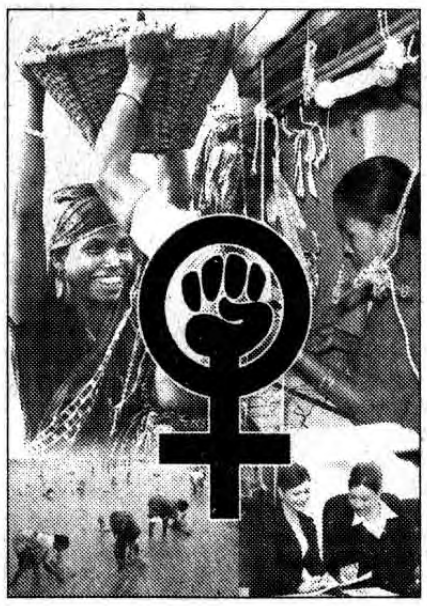

आज भारत की सबसे शक्तिशाली नारियों के रूप में जिन्हें नवाजा जा रहा है, उनके अलावा देश की एक आम महिला की लड़ाई, उसकी सफलताओं, आकांक्षाओं और निराशाओं की चर्चा कम होती है। इसके पीछे मुख्य कारण है कि वैश्वीकरण के दौर में विश्व बाजार के ट्रेंड निर्धारित करने वाली नारी को ही देश का 'ब्रांड अम्बैसेडर' बनाया जाता है। फिल्म की दुनिया में ऐश, कैटरीना, प्रियका, करीना हैं, फैशन की दुनिया में अपर्णा कुमार, लैला रोआस और रेशमी घोष, ब्यूटी बिजनेस में शहनाज, छोटे पर्दे पर छाई हैं एकता कपूर और अश्विनी यार्डी, बिजनेस में कदम बढ़ा रही हैं ललिता गुप्ते, कल्पना मोरपारिया, किरण मजूमदार शॉ, सिमॉन टाटा, और इंदु जैन। राजनीति में शक्ति की प्रतीक बनीं सोनिया, ममता, मायावती और शीला दीक्षित। किसी को ऐतराज क्यों हो कि विभिन्न क्षेत्रों में तरक्की कर रही महिलाओं के नाम सामने आएं? पर क्या भारत की नारी की तस्वीर यही है? इन सक्सेसफुल औरतों को देखकर हम कैसे भूल जाएं कि अब भी करोड़ों शहरी और ग्रामीण औरतें हाशिये पर जीवन बसर कर रही हैं? आठ मार्च के कॉरपोरेटाइजेशन और सरकारीकरण से उनका महत्व और संदर्भ खो रहा है।

हम गौर करें कि महिला सशक्तिकरण वर्ष 2001 के बाद के लगभग दो दशक होने को हैं पर आज भी हम काफी पीछे हैं। कुछ एक मामलों में प्रगति जरूर दिखाई दी- मसलन पंचायतों और नगर निकायों में 50 प्रतिशत महिला आरक्षण, घरेलू हिंसा निरोधक कानून और महिलाओं को सम्पत्ति अधिकार। पर जहां तक औरतों के रोजगार, शिक्षा, स्वास्थ्य और विधानसभाओं व संसद में प्रतिनिधित्व का सवाल है, अभी लड़ाई थमती नहीं दिखती। शायद हमारे संविधान में निहित महिला-पुरुष की बराबरी का प्रावधान अब 'लेटेंट' रहा और औरतों के लिए रोजगार के नए अवसरों के खुलने व 10 लाख महिलाओं के स्थानीय निकायों में पहुंचने के बाद से परिदृश्य बदल गया। अब महिला की बराबरी का प्रश्न एक व्यावहारिक सवाल बन गया है।

पर औरत के बढ़ते कदमों को आसानी से स्वीकारा नहीं गया। आर्थिक रूप से संपन्न और हरित क्रांति वाले प्रदेशों में महिलाओं पर सबसे अधिक हिंसा है- चाहे वह भ्रूणहत्या के रूप में हो या पंचायतों द्वारा सुनाई जाने वाली सजा। हरियाणा, पंजाब, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली और गुजरात जैसे प्रांतों का नाम भ्रूणहत्या के मामले में टॉप पर है और देश में प्रतिदिन 2000 से अधिक कन्या भ्रूण नष्ट किये जाते हैं। पंजाब और दिल्ली में 32 प्रतिशत और मुज़फ्फरनगर में 25 ऐसी हत्याओं का आंकड़ा सामने आया और हरियाणा भी इस मामले में पीछे नहीं है। 15-34 आयु की 1.63 लाख औरतें प्रतिवर्ष जलाई जाती हैं। इसके अलावा, दफ्तरों, फैक्टरियों, ईंट-भट्टों से लेकर कॉलेजों और स्कूलों तक में हम लड़कियों को आज ज्यादा असुरक्षित पाते हैं। सड़कों और ट्रेनों में भी महिलाओं पर हमले होते हैं, पर सबसे हैरत की बात है कि इसे आम मान लिया गया है, सो अपेक्षित सामाजिक प्रतिक्रिया नहीं दिखती। मीडिया के ज़रिये एक छोटा पर 'वोकल' और प्रबुद्ध हिस्सा जब सड़क पर उतरता है, तब कानून के रखवालों के कान में जूं रेंगती है। इसलिए जेसिका, प्रियदर्शिनी, आरुषी और रुचिका केस खास बन जाते हैं। लेकिन मणिपुर की महिला आंदोलनकारी इरोम शर्मिला, सिंगूर की तापसी मलिक, नंदीग्राम की बलात्कार की शिकार औरतों और छत्तीसगढ़ की सोडी साम्बो को न्याय नहीं मिलता। हम कह सकते हैं कि मध्यमवर्गीय औरतों पर व्यक्तिगत हिंसा के मामले एक खास किस्म के 'ऐक्टिविज्म' को जन्म देते हैं, पर जहां मुद्दा एक बड़े हिस्से की महिलाओं से ताल्लुक रखता है, वहा कई किस्म के जटिल प्रश्न खड़े हो जाते हैं। अब भी जद्दोजहद जारी है कि इन्हें कैसे सुरक्षा मिले।

भारत का मातृत्व मृत्यु-दर विश्व में दूसरे स्थान पर है और 88 प्रतिशत गर्भवती महिलाएं खून की कमी की शिकार हैं। वर्तमान खाद्य संकट को देखते हुए इस आंकड़े में वृद्धि हो सकती है, जबकि औरतें 60-80 प्रतिशत खेतिहर उत्पाद से जुड़ी हैं। चाय, बुनकरी और लघु उद्योगों के लगातार खात्मे के कारण बेरोजगारी बढ़ी है जिसके चलते 30-35 लाख औरतें वेश्यावृत्ति अपना चुकी हैं और अब सर्वोच्च न्यायालय इस धंधे को मान्यता देने की वकालत कर रहा है क्योंकि देश में लगभग 12.5 लाख औरतें एड्स से जूझ रही हैं, पर वैकल्पिक रोजगार के बारे में सोचा ही नहीं जा रहा। फिर विशेष आर्थिक क्षेत्रों ने 21 जिलों के जिन 3.5 लाख लोगों को विस्थापित किया है उनमें अधिकतर दलित महिला खेतिहर मजदूर हैं। इनकी बेकारी के बारे में कौन सोचेगा?

जब तक आम महिलाओं के सरोकार सामाजिक-राजनीतिक सरोकार नहीं बनते, तब तक इस खाई को पाटना संभव नहीं। महिला आंदोलन को अब एक नया आयाम देना होगा।

औरतों की हालत बदले तो बात बने

महिला आरक्षण का स्वागत है, लेकिन उनकी समग्र बेहतरी के लिए यह काफी नहीं है

अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस

वीना

वर्ष 1857 भारत में अंगरेजों के विरुद्ध देशवासियों के पहले गौरवपूर्ण विद्रोह की कहानी कहता है। यही वह दौर था, जब औद्योगिक क्रांति से लाभान्वित देशों में महिलाएं अपने आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों के लिए सड़कों पर उतर गईं। उनके क्षोभ को समझा जा सकता था। तब छोटे-छोटे कमरों में 22-25 औरतों-बच्चों से 18 से 22 घंटे तक काम लिया जाता था। घुटन, भूख, अनिद्रा की भयावह परिस्थितियों के बीच उनका जीवन नरक हो रहा था। आखिरकार जब पानी सिर से ऊपर होने लगा, तो औरतों ने शोषण के खिलाफ विद्रोह का परचम फहरा दिया। वह आठ मार्च, 1857 का दिन था, जब न्यूयॉर्क की टेक्सस्टाइल मिलों में काम कर रहीं महिला कामगारों ने खराब कार्यस्थल और कम वेतन के विरोध में बहुत बड़ी हड़ताल की। उसके दो साल के बाद आठ मार्च के ही दिन इन महिलाओं ने पहली श्रमिक यूनियन बनाई। उनकी मांगें मानी गईं। बेहतर कार्यस्थल के साथ-साथ उन्हें और भी कई हक मिले।

बीसवीं शताब्दी के शुरुआती दौर में कई मुल्कों में वयस्क नागरिकों को मताधिकार मिला। लेकिन महिलाओं और पागलों को मताधिकार नहीं दिया गया। एक बार फिर आठ मार्च, 1908 को 15,000 मजदूर महिलाएं काम के घंटे कम करने, बेहतर वेतन और सभी महिलाओं के लिए मताधिकार की मांग लेकर न्यूयॉर्क की सड़कों पर उतरीं।

इन्हीं आंदोलनों से प्रेरित होकर वर्ष 1910 में कोपेनहेगन में समाजवादी विचारधारा की महिलाओं ने एक विश्व स्तरीय महिला सम्मेलन किया। चूंकि आठ मार्च पहले से ही महिला आंदोलनों का दिवस बन गया था, इसलिए इसी तारीख को अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस के रूप में पहचान मिली। तत्कालीन संयुक्त राष्ट्र संघ की मंजूरी के बाद भारत में भी महिला दिवस को सरकारी मान्यता मिली।

रूस में हुई 1917 की अक्तूबर क्रांति के बारे में स्कूलों में बच्चों को पढ़ाया जाता है। लेकिन 1917 में इस क्रांति से पहले ही रूसी महिलाओं ने पेत्रोग्राद (लेनिनग्राद) में विद्रोह का बिगुल बजा दिया था। प्रथम विश्वयुद्ध में करीब दो लाख रूसी सिपाही मारे गए थे। उस समय रूस में भोजन की भारी कमी थी। इसके विरोध में महिलाओं ने रविवार के दिन ब्रेड ऐंड पीस नाम से हड़ताल की, जिसमें उन्होंने भोजन, शांति और महिलाओं के मताधिकार की मांग की। हड़ताल में लाखों की संख्या में महिलाएं सड़कों पर उतर आई थीं। तीन दिन तक पूरा पेत्रोग्राद अस्त-व्यस्त रहा था। चौथे दिन जार को मजबूरन गद्दी छोड़नी पड़ी थी। नई अंतरिम सरकार ने महिलाओं को मताधिकार देने की मांग मान ली। वह ऐतिहासिक रविवार रूस के जूलियन कैलेंडर के मुताबिक 23 फरवरी था और बाकी जगह इस्तेमाल होने वाले ग्रेगोरियन कैलेंडर में आठ मार्च। लेकिन विडंबना देखिए, इस संघर्ष का, और इससे पहले अमेरिका, भारत और दूसरे मुल्कों में महिलाओं द्वारा संघर्षों का हमारी पाठ्य पुस्तकों में जिक्र तक नहीं है।

अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस के बारे में अलबत्ता हमारे प्रबुद्ध समाज में भी बहुत चेतना नहीं है। राजधानी की अनेक पढ़ी-लिखी लड़कियां भी आठ मार्च के बारे में पूछने पर बगले झांकने लगती हैं। हालांकि यहां हर साल सरकारी खर्च पर आठ मार्च का जश्न मनाया जाता है।

21वीं सदी में भी औरतें घर से लेकर दफ्तर तक लांछित होती हैं। ऐसे में, उनके प्रति सामाजिक सोच में बदलाव की भी आवश्यकता है

इसके बावजूद इस धूम की गूंज जब दिल्ली को ही सुनाई नहीं देती, तो भला गांवों तक कैसे पहुंचेगी? वैसे सजावट के सामान और नए से नए फैशन शहरों से होते हुए गांवों-कसबों तक पहुंचने लगे हैं।

क्या विद्रूप है! पुरुषों के बराबर वेतन और सुविधाजनक कार्यस्थल की मांग के लिए ही कभी महिलाएं एकजुट हुई थीं, जिसका परिणाम अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस के रूप में सामने आया था, लेकिन भारत जैसे देश में ये समस्याएं आज भी जस की तस हैं। खासकर निचले तबके की मजदूर महिलाएं तो न्यूनतम सुविधाओं के लिए कब से राजधानी की ओर निहार रही हैं। हालांकि इस बीच रात की पालियों में महिलाओं को काम करने का अधिकार अदालत ने दिया है। लेकिन व्यावहारिक रूप से महिला कामगारों के लिए अब भी बहुत मुश्किलें हैं। निजी कंपनियों में महिला कामगारों के साथ होते सुलूक की तो बात छोड़ें, देश की राजधानी में महिला सफाई कर्मचारियों की हालत देखिए। इनके लिए ऐसी कोई जगह नहीं है, जहां बैठकर ये खाना खा सकें। जरूरत पड़ने पर शौच जा सकें, इसके बारे में तो सोचना भी विलासिता है।

महिलाओं की सामाजिक स्थिति आज भी अच्छी नहीं है। जबकि संविधान उन्हें समानता का अधिकार दे चुका है। हकीकत यह है कि तमाम धर्मों के 'पर्सनल लॉ' संविधान की अनदेखी कर महिलाओं के अधिकारों को अपनी मुट्ठी में दबोचे हुए है। संविधान और कानून के मुताबिक, तलाकशुदा महिलाएं अगर शादी नहीं करतीं, तो पति से गुजारा भत्ता पाने की हकदार हैं। पर 1986 में शाह बानो के चर्चित मामले के बाद तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने धर्मनिरपेक्षता का हवाला देते हुए संविधान में संशोधन कर 'द मुसलिम वूमेन (प्रोटेक्शन ऑफ राइट्स ऑन डाइवोर्स) ऐक्ट, 1986' लाकर मुसलिम महिलाओं के इस अधिकार को इद्दत पीरियड यानी तलाक के बाद तीन महीने तक समेट दिया।

यह विडंनबा ही है कि तब से लेकर आज तक इन महिलाओं की बेहतरी के बारे में किसी ने गंभीरता से सोचा ही नहीं। इस लिहाज से यह सचमुच देखने की बात है कि 15वीं लोकसभा में महिला सशक्तिकरण का उदाहरण बनी त्रिमूर्ति यानी कांग्रेस अध्यक्ष सोनिया गांधी, लोकसभा स्पीकर मीरा कुमार और विपक्ष की नेता सुषमा स्वराज औरतों की बेड़ियां पूरी तरह खोल पाती हैं या नहीं। यह देश की हर औरत का सपना है कि संसद और विधानमंडलों में महिलाओं की 33 प्रतिशत भागीदारी सुनिश्चित हो, ताकि जीवन के किसी क्षेत्र में औरत को सामाजिक बराबरी के लिए पुरुष सहमति की आवश्यकता न रहे।

(लेखिका स्वतंत्र टिप्पणीकार हैं)

• महिलाओं का मंगल

रच गया इतिहास

■ रास से महिला बिल पारित

नई दिल्ली (एसएनबी)। संसद के ऊपरी सदन राज्यसभा ने मंगलवार को इतिहास रचते हुए महिला आरक्षण विधेयक पारित कर दिया। अब लोकसभा में इसकी परीक्षा होगी। विधेयक के पक्ष में 186 वोट पड़े। एक वोट विरोध में डाला गया। शेतकारी पार्टी के सांसद शरद जोशी ने यह कहते हुए विधेयक के ख़िलाफ वोट दिया कि लॉटरी के आधार पर आरक्षण से संसदीय क्षेत्रों की उपेक्षा होगी।

विधेयक का पहले से विरोध कर रहे यूपीए के सहयोगी सपा और राजद के सांसद सदन से वॉकआउट कर गए। बसपा ने बहस में तो हिस्सा लिया लेकिन यह मांग करते हुए मतदान से अपने को अलग कर लिया कि महिलाओं को 50 प्रतिशत आरक्षण दिया जाए। तृणमूल कांग्रेस से सरकार को उम्मीद थी कि विधेयक का समर्थन करेगी लेकिन उसके दोनों सांसद वोट देने के लिए आए ही नहीं। तृणमूल प्रमुख ममता बनर्जी इसलिए खफा हो गई कि कांग्रेस ने विधेयक के पक्ष में वोट देने के लिए आज एक बार भी उनसे बात नहीं की। सरकार ने भाजपा और वामदलों की मदद से इसे पारित कराने में कामयाबी हासिल की।

ये हमारी संस्कृति का समारोह है : पीएम

हम अपनी मां का कर्जा चुका रहे हैं : मोइली

संसद के लिए ऐतिहासिक दिन : जेटली

सरकार बिना बहस के विधेयक पारित कराना चाहती थी लेकिन भाजपा समेत समूचा विपक्ष इसके लिए तैयार नहीं था। लिहाजा पहले बहस हुई और फिर प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह बोले। प्रधानमंत्री ने सदन में उपद्रव करने पर मार्शलों से बाहर कराए गए सांसदों का तो जिक्र नहीं किया लेकिन इन पंक्तियों के जरिए कि 'आगाज़ को कोई नहीं पूछता अगर अंजाम अच्छा हो' साफ कर दिया कि वे कुछ सांसदों के खराब व्यवहार को भूल गए हैं। महिला आरक्षण को उन्होंने ऐतिहासिक कदम बताया और कहा कि यह देश को आगे ले जाएगा। प्रधानमंत्री ने स्वतंत्रता संग्राम में अहम भूमिका निभाने वाली और देश को आगे ले जाने वाली तमाम महिलाओं कस्तूरबा गांधी, एनीबेसेंट, कमला नेहरू, सरोजनी नायडू, विजयलक्ष्मी पंडित और इंदिरा गांधी को महान बताते हुए उनके योगदान का स्मरण किया।

प्रधानमंत्री ने विधेयक का समर्थन करने के लिए विपक्ष के नेता अरुण जेटली और दूसरे नेताओं का आभार व्यक्त किया। उन्होंने स्व. गीता मुखर्जी और कांग्रेस सांसद जयंती नटराजन की भी प्रशंसा की, जिन्होंने संसद की स्थाई समिति के अध्यक्ष की हैसियत से इस विधेयक के लिए काफी परिश्रम किया।

इसके बाद कानून मंत्री वीरप्पा मोइली ने बताया कि पिछड़ों की संख्या के बारे में वर्ष 1935 के बाद से कोई नई जानकारी नहीं होने से उनके लिए कोटा रखे जाने के बारे में विचार नहीं किया जा सका। उन्होंने बताया कि परिसीमन कानून की भांति महिलाओं के लिए सीटें निर्धारित किए जाने के विषय में अलग से कानून बनाया जाएगा। मोइली के संबोधन के बाद मतदान की प्रक्रिया पूरी की गयी और विधेयक एक के मुकाबले 186 वोटों से पारित हो गया।

महिला आरक्षण विधेयक से संबंधित अन्य समाचार पेज-9 और 11 पर भी देखें

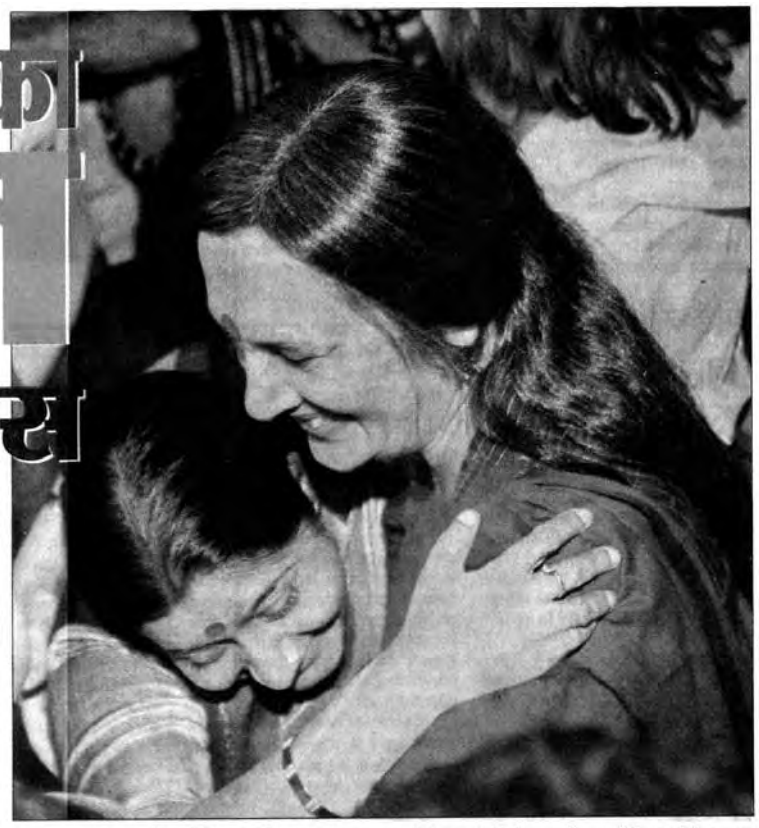

कुछ इस अंदाज में किया खुशी का इजहार : राज्यसभा में बिल पास होने के बाद लोकसभा में विपक्ष की नेता सुषमा स्वराज और माकपा की राज्यसभा सदस्य वृंदा करात खुशी से एक दूसरे को गले लगाती हुई।

हंगामा करने वालों को मार्शलों ने निकाला

नई दिल्ली (एसएनबी)। महिला आरक्षण विधेयक पर राज्यसभा में हंगामा करने वाले सात सांसदों को मंगलवार को निलंबित कर दिया गया। निलंबन सिर्फ बजट सत्र तक के लिए है। निलंबन के बावजूद सदस्यों के **मतदन से बाहर नहीं** जाने पर सभापति मोहमद हामिद अंसारी ने मार्शलों के जरिए उन्हें बाहर निकलवा दिया। मार्शलों के इस्तेमाल के विरोध में सपा के कमाल अख्तर ने कांच का गिलास तक तोड़ दिया। करीब आधे घंटे तक सदन में जबर्दस्त अफरातफरी रही।

निलंबन के बावजूद सपा, राजद, लोजपा के सात सदस्य दे रहे थे सदन में धरना

तीन बार के स्थगन के बाद जब उच्च सदन की बैठक शुरू हुई तो सातो निलंबित सदस्य आसन के समक्ष धरने पर ही मौजूद थे। इनमें सपा के कमाल अख्तर, आमिर आलम खान, वीरपाल सिंह और नंद किशोर यादव, जदयू के निलंबित सदस्य डा. एजाज अली, राजद के सुभाष यादव तथा लोजपा के साबिर अली शामिल है। इन्हीं के साथ राजद के राजनीति प्रसाद और सपा के रामनारायण साहू भी आसन के समक्ष आकर विरोध व्यक्त करने लगे। सभापति हामिद अंसारी ने इन सदस्यों से वापस चले जाने की कई बार अपील की। इसी बीच उन्होंने संविधान 108वां संशोधन विधेयक पर चर्चा की घोषणा करते हुए विपक्ष के नेता अरुण जेटली का नाम पुकारा। जेटली अपने स्थान पर बोलने के लिए खड़े हुए लेकिन हंगामे के कारण वह अपनी बात शुरू नहीं कर पाए। (शेष पेज 2)

कैसे बदलेगा स्वरूप

लोकसभा की कुल सीटें 543, अजा/अजजा 122, महिलाएं 181, बाकी बची सीटें 240

विधानसभाओं में कुल सीटें 4109, अजा/अजजा 1,167, महिलाएं 1,370, बाकी बची सीटें 1572

पक्ष 186

विपक्ष 001

विधेयक की प्रतियां फाड़ने वाले सपा राजद और लोजपा के 7 सदस्य निलंबित

तृमूकां रही मतदान से अनुपस्थित

भाजपा-वामदलों ने किया समर्थन

बसपा ने किया वाकआउट

14 साल का इंतजार

- 12 सितम्बर 1996 : देवगौड़ा सरकार ने 81वें संविधान संशोधन विधेयक के रूप में संसद में पेश किया। कुछ ही दिन बाद सरकार अल्पमत में आ गई और 11वीं लोकसभा को भंग कर दिया गया।
- 26 जून 1998 : वाजपेयी के नेतृत्व वाली राजग सरकार ने विधेयक को 12वीं लोकसभा में 84वें संविधान संशोधन विधेयक के रूप में पेश किया। विधेयक पारित नहीं हो सका। क्योंकि सरकार अल्पमत में आ जाने की वजह से गिर गई।
- 22 नवम्बर 1999 : दोबारा सत्ता में आई राजग सरकार ने 13वीं लोकसभा में महिला आरक्षण विधेयक को फिर पेश किया। लेकिन इस बार भी सरकार आमराय नहीं बना सकी।
- राजग सरकार ने वर्ष 2002 और 2003 में फिर महिला आरक्षण विधेयक पेश किया, लेकिन पारित नहीं करा सकी।
- 6 मई 2008 :मनमोहन के नेतृत्व वेली यूपीए सरकार में विधेयक राज्यसभा में पेश हुआ और उसे कानून एवं न्याय से संबंधित स्थायी समिति के पास भेजा गया।
- 17 दिसम्बर 2009 : स्थायी समिति ने अपनी रिपोर्ट पेश की। सपा, जदयू तथा राजद के विरोध के बीच महिला आरक्षण विधेयक को संसद के दोनों सदनों के पटल पर रखा गया।
- आठ मार्च 2010 : विधेयक को राज्यसभा के पटल पर रखा गया। लेकिन सदन में हंगामे और सपा तथा राजद द्वारा संग्रप से समर्थन वापस लेने की चेतावनी की वजह से उस पर मतदान नहीं हो सका।
- नौ मार्च 2010 : राज्यसभा में महिला आरक्षण विधेयक भारी बहुमत से पारित।

बाधाओं के बावजूद

सत्येंद्र रंजन

यह विडंबना ही है कि जिन पार्टियों को महिला आरक्षण विधेयक के समर्थन में अग्रिम कतार में होना चाहिए था, वे इस प्रकरण में खलनायक बन कर उभरी हैं। राष्ट्रीय जनता दल और समाजवादी पार्टी खुद को लोहिया-जेपी की विचारधारा की वारिस बताती हैं तो बहुजन समाज पार्टी और लोक जनशक्ति पार्टी का दावा भीमराव आंबेडकर के विचारों पर चलने का है। इन तीनों मनीषियों की विचारधारा और राजनीति का मूलमंत्र न्याय और समता के मूल्य थे। महिलाओं के साथ न्याय और पुरुषों के साथ उनकी बराबरी पर जोर देने में उन्होंने कभी कोई कोताही नहीं की।

डॉ लोहिया के सप्तक्रांति के सपने का एक महत्त्वपूर्ण पहलू नर-नारी समानता है और जयप्रकाश नारायण ने जब संपूर्ण क्रांति की विचारधारा रखी तो उसकी व्याख्या के क्रम में उन्हें यह कहने में कोई संकोच नहीं हुआ कि लोहिया की सप्तक्रांति ही उनकी संपूर्ण क्रांति है। हिंदू कोड बिल लाने में आंबेडकर की भूमिका स्वतंत्र भारत के इतिहास में उनके गौरवपूर्ण योगदान के रूप में दर्ज में है। यह देख कर हैरत होती है कि उन शख्सियतों का वारिस होने का दावा करने वाली सपा, राजद, बसपा और लोजपा आज इतिहास की धारा की उलटी दिशा में खड़ी हैं।

स्वार्थ और संकीर्ण सोच से कोई राजनीति कितना गलत रूप ले सकती है, यह संभवतः इस बात की सबसे बेहतरीन मिसाल है। समाज में जारी किसी एक अन्याय की आड़ में न्याय की किसी दूसरी कोशिश को रोकने की इन दलों की कोशिश सिर्फ यह साबित करती है कि इन दलों ने खुद को खुद अपनी विरासत और हर तरह के उदात्त मूल्यों से अलग कर लिया है। पिछड़ी जातियों और अल्पसंख्यकों के नाम पर संसद में दिखा उनका उग्र रूप चुनावी राजनीति में उनके लिए कितना फायदेमंद होगा, यह तो अगले चुनावों में ही जाहिर होगा, लेकिन एक इतने महत्त्वपूर्ण मसले पर उन्होंने अपनी जो छवि पेश की है उससे यह सवाल बेहद प्रासंगिक हो गया है कि भारतीय राजनीति में आखिर ये पार्टियां किस धारा की नुमाइंदगी करती हैं?

मुलायम सिंह यादव, लालू प्रसाद यादव और रामविलास पासवान भारतीय राजनीति में गैर-कांग्रेसवाद का झंडा पकड़े हुए उभरे और बाद में मंडल के दौर में अन्य पिछड़ी जातियों और दलितों के हितों का नुमाइंदा होने का दावा करते हुए उन्होंने अपनी खास प्रासंगिकता बनाई। मायावती एक बेहद सामान्य पृष्ठभूमि से उभर कर देश के सबसे ज्यादा आबादी वाले राज्य की मुख्यमंत्री बनीं तो इसे सिर्फ उनकी व्यक्तिगत उपलब्धि के रूप में नहीं देखा गया, बल्कि इसे दलित सशक्तीकरण की परिघटना का एक खास मुकाम माना गया। इन परिघटनाओं को सदियों से जारी सामाजिक अन्याय को दूर करने के प्रयासों का हिस्सा माना गया।

लेकिन जो पार्टियां और नेता जातिगत उत्पीड़न के मुद्दे पर सामाजिक न्याय के प्रवक्ता के रहे, महिलाओं को राजनीतिक भागीदारी देने के सवाल पर सामाजिक अन्याय की मानसिकता जता कर उन्होंने अपनी साख को घोर क्षति पहुंचाई है। इन दलों को क्या सिर्फ इस बात की चिंता है कि ओबीसी, दलित और अल्पसंख्यक महिलाओं को संविधान के 108वें संशोधन के तहत उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिलेगा, या उनके सोच में ही कहीं महिलाओं को कमतर मानने की बात भी बैठी हुई है?

1990 के दशक में शरद यादव ने महिला आरक्षण के ही संदर्भ में 'परकटी' महिलाओं वाली टिप्पणी की थी। क्या महिलाओं के प्रति अपमान का वही भाव और सामंती नजरिया इन दलों के व्यवहार में एक बार फिर जाहिर नहीं हुआ है? इस प्रकरण की यह एक दूसरी विडंबना यह है कि भारतीय राजनीति में रूढ़िवाद और पुरातन मूल्यों की प्रतिनिधि भारतीय जनता पार्टी महिला आरक्षण के मुद्दे पर उन सामाजिक न्याय की कथित समर्थक पार्टियों से ज्यादा सकारात्मक भूमिका में सामने आई है।

भाजपा जिस विचारधारा में यकीन करती है उसमें स्त्रियों के लिए स्वतंत्र व्यक्तित्व की कोई जगह नहीं है। बल्कि स्त्री के यौन व्यक्तित्व को नियंत्रित करने, उसे पुरुष-प्रधान मूल्यों के अधीन रखने और उसकी स्वतंत्र पहचान को नकारने का सोच उस विचारधारा की जड़ में शामिल है। भाजपा जिस संघ परिवार का हिस्सा है, उसे इस आधुनिक दौर में भी स्त्रियों के लिए सती-सावित्री का आदर्श सामने रखने में कोई हिचक नहीं होती। स्त्री स्वतंत्रता की कलात्मक अभिव्यक्तियों के खिलाफ इस राजनीतिक परिवार के अभियान अभी कोई बहुत पुरानी बात नहीं हैं। ऐसे में भाजपा का राजनीतिक सत्ता में महिलाओं की भागीदारी दिलाने वाले ऐतिहासिक कदम के साथ होना एक विसंगति की तरह लगता है। बहरहाल, वजह चाहे जो हो और इसके पीछे चाहे जैसा राजनीतिक गणित हो, भाजपा ने यह एक साहसिक काम किया है और इसके लिए उसके आज के नेतृत्व की तारीफ की जानी चाहिए।

इस विडंबना को संभवतः लोकतांत्रिक राजनीति के दबाव और सामाजिक द्वंद्ववाद की प्रक्रिया के तहत समझा जा सकता है। जिस पार्टी की राजनीतिक प्रासंगिकता प्रगतिशीलता-विरोध के आधार पर कायम हो, उसके सामने भी अपनी लोकतांत्रिक साख बनाने की मजबूरी रहती है। ऐसे कुछ मुद्दों पर, जिनका उसकी विचारधारा से सीधा अंतर्विरोध न हो, और जिससे उसे अपना उदार चेहरा पेश करने में मदद मिले, वह ऐसे रुख ले लेती है। संभवतः इसे एक हद तक सांप्रदायिक और कट्टरपंथी राजनीति करने वाली भाजपा के विकास-क्रम का हिस्सा भी माना जा सकता है। जबकि उत्तर प्रदेश और बिहार में पिछड़ी और दलित जातियों के नाम पर राजनीति करने वाले दलों के भीतर ऐसे किसी विकास-क्रम की मिसाल आज देखने को नहीं मिलती।

भारतीय समाज में आज भी महिलाओं को गैरबराबरी और अन्याय का दंश रोज सहना पड़ता है। लेकिन पिछले दशकों में इस विषमता और अन्याय के खिलाफ जागरूकता तेजी से बढ़ी है। महिलाओं ने अपने हक और अपने लिए समान दर्जा पाने की लड़ाई गंभीरता से लड़ी है। यह विधेयक उस लड़ाई की एक बड़ी सफलता है।

शायद उनके बीच एक अपवाद बिहार के मुख्यमंत्री नीतीश कुमार हैं, जिन्होंने महिला आरक्षण के मुद्दे पर अपनी पार्टी के घिसे-पिटे रुख से आगे निकलने का इरादा दिखाया है। पंचायतों में महिलाओं का आरक्षण बढ़ा कर पचास फीसद करने और अति पिछड़ों और महादलितों की एक नई श्रेणी तय कर इनके तहत आने वाली जातियों को पंचायतों में आरक्षण देने का उनका कदम देश के बाकी राज्यों के लिए मिसाल बन चुका है। अब अपनी पार्टी जनता दल (एकी) के घोषित रुख से हटते हुए लोकसभा और विधानसभाओं में महिला आरक्षण का समर्थन कर उन्होंने अपनी उस पहल को तार्किक अंजाम दिया है। बेहतर होता लालू प्रसाद यादव, रामविलास पासवान, मायावती और मुलायम सिंह यादव इससे कुछ सबक लेते। मगर उन्होंने सोच के अपने संकरे या कहें अंधेरे दायरे में बंद रहने का फैसला किया और इस तरह एक बेहद अहम मुद्दे पर अपने लिए प्रतिगामी भूमिका अपना ली।

जबकि यह विधेयक इन दलों के लिए अपनी राजनीति को ज्यादा व्यापक आयाम देने और नए सिरे से राष्ट्रीय राजनीति में अपनी प्रासंगिकता कायम करने का मौका भी साबित हो सकता था। आज के दौर में एक बड़ी विडंबना यह है कि अपने तमाम नव-उदारवादी नजरिए और विदेश नीति में दक्षिणपंथी झुकावों के बावजूद कांग्रेस देश की राजनीति में सामाजिक जनतंत्र के खाली स्थल पर काबिज होती जा रही है। एक घोर जनविरोधी बजट पेश करने और परमाणु क्षति की नागरिक देनदारी विधेयक को कैबिनेट से मंजूरी देने के फौरन बाद महिला आरक्षण का एजेंडा लाकर वह अपनी आर्थिक और विदेश नीति संबंधी प्राथमिकताओं पर सामाजिक उदारता का पर्दा डालने में सफल हो गई है। नब्बे के दशक में मंडल की परिघटना से मजबूत हुए नेताओं का कर्तव्य यह था कि वे कांग्रेस नेतृत्व और मनमोहन सिंह सरकार के चेहरे से यह पर्दा हटाते।

वे इस अंतर्विरोध को देश की जनता के सामने रखते कि जो सरकार महिलाओं को राजनीतिक भागीदारी देने में इतना उत्साह दिखा रही है, वही आम महिलाओं की जिंदगी कैसे मुश्किल बना रही है और कैसे वह अमेरिकी परमाणु रिएक्टर कंपनियों के हितों की रक्षा के लिए देश की भावी पीढ़ियों के जान-माल की कीमत अभी से तय कर रही है।

दरअसल, इस मौके पर इन तथ्यों पर भी जोर दिए जाने की जरूरत थी कि जिस देश ने महिलाओं को राजनीतिक भागीदारी देने का इतना बड़ा कदम उठाया है, वहीं स्त्री विरोधी मानसिकता की वजह से लैंगिक अनुपात तेजी से घट रहा है और महिलाओं की रक्षा के लिए बने कानूनों के न सिर्फ अमल में गड़बड़ी है, बल्कि कई मौकों पर अदालतें भी उन कानूनों की अजीबोगरीब व्याख्या कर रही हैं। क्या बाकी सभी क्षेत्रों में महिलाओं को विषमता और अन्याय के बीच छोड़ कर सिर्फ राजनीति में उनके साथ इंसाफ हो सकता है? प्रगति धीरे-धीरे हो रही है, जैसी तमाम दलीलें क्या इस क्षेत्र में हमारी इच्छाशक्ति के कमजोर होने का प्रमाण नहीं हैं?

अगर इरादा पक्का हो तो ऐतिहासिक बाधाओं के बावजूद काफी कुछ हासिल किया जा सकता है। लेकिन इसके लिए जरूरत तमाम नीतियों को जन-पक्षीय बनाने की होगी और इस कसौटी पर मनमोहन सिंह की सरकार लगातार जन-अपेक्षाओं को चोट पहुंचा रही है।

मुश्किल यह है कि इस संदर्भ को सामने रख कर इस सरकार और कांग्रेस नेतृत्व को कठघरे में खड़ा करने वाली राजनीतिक ताकतें आज बहुत कमजोर हो गई हैं और कॉरपोरेट मीडिया बची-खुची ताकतों की बात को भी सही ढंग से पेश नहीं करता। परिणाम यह है कि जन-विरोधी आचरण के बावजूद कांग्रेस पार्टी प्रगतिशील लोगों की पसंद बनी हुई है।

अगर मुलायम सिंह यादव, लालू प्रसाद, मायावती या रामविलास पासवान में राजनीतिक दूरदर्शिता होती तो वे इस विडंबना को समझते। वे अपनी ताकत अगर वामपंथी दलों के साथ जोड़ कर अपेक्षया ज्यादा मजबूत वाम-जनतांत्रिक विकल्प विकसित करने की कोशिश करते तो स्थिति जरूर कुछ बदल सकती थी। वे ऐसा दबाव बना सकते थे, जिससे आम जन का ज्यादा भला होता, जिसमें दलित-ओबीसी-मुसलिम सभी शामिल हैं। मगर उन्होंने राजनीतिक नासमझी का परिचय देकर एक प्रगतिशील कदम का सारा श्रेय कांग्रेस की झोली में डाल दिया है और खुद एक विडंबना बन गए हैं।

अगर संसद का दो तिहाई हिस्सा आज इस विधेयक के साथ है तो जाहिर है, अब समर्थन या विरोध इसका मुद्दा नहीं है। मुद्दा जिस नजरिए से यह विधेयक आना संभव हुआ है, उसे व्यापक रूप देने का है। इस मोर्चे पर लड़ाई या कोशिशें आज बहुत कमजोर नजर आती हैं। फिर भी संसद ने दो तिहाई बहुमत से महिला आरक्षण विधेयक को पास करने की तत्परता दिखाई है, तो यह संतोष की बात है। यह इस बात की झलक है कि भले भारतीय समाज महिलाओं के प्रति आज भी बेहद विषम और एक हद तक अन्यायकारी है। भारतीय समाज में आज भी महिलाओं को गैरबराबरी और अन्याय का दंश रोज सहना पड़ता है। लेकिन पिछले दशकों में इस विषमता और अन्याय के खिलाफ जागरूकता तेजी से बढ़ी है। महिलाओं ने अपने हक और अपने लिए समान दर्जा पाने की लड़ाई गंभीरता से लड़ी है। यह विधेयक उस लड़ाई की एक बड़ी सफलता है।

सुलझे-अनसुलझे सवाल

आधी दुनिया

कुमुदिनी पति

साठ साल के गणतंत्र के बाद भी क्या हम देश की आधी आबादी को किसी मुकाम तक पहुंचा सके हैं? यह सच है कि सत्तर के दशक में जब नारी की स्वतंत्र दावेदारी शुरू हुई, तब से हम एक कठिन पर आशापूर्ण रास्ता तय कर चुके हैं। औरतों की सामूहिक ताकत ने सरकारों को न जाने कितने नए कानून बनाने पर मजबूर किया; महिलाओं को आर्थिक व सामाजिक रूप से स्वावलबी बनाने के लिए कितने नए द्वार खुलवाए और ऐसे क्षेत्रों में, जहां औरतें कभी कदम नहीं रखती थीं, नए कीर्तिमान स्थापित करने का आत्मबल दिया। आज महिलाएं स्वयं उद्योग चला रही हैं, विज्ञान व तकनीकी से लेकर साहित्य-संस्कृति, कानून-निर्माण और राजनीति के क्षेत्र में हिम्मत और हौसले के साथ आगे बढ़ रही हैं- यह सब नारी की स्वतंत्र दावेदारी का नतीजा है।

परन्तु यह भी सच है कि पितृसत्तात्मक समाज इस प्रगति के रास्ते में रोड़े अटकाने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ता। इसलिए औरत जितना आगे बढ़ी, उसे उतनी ही कुर्बानी देनी पड़ी है और समाज की प्रतिक्रिया झेलनी पड़ती है। आज जब औरतों को दमित रखने के सभी तरीके असफल साबित हो रहे हैं, उन्हें धार्मिक पुनर्उत्थानवाद व हिंसा के जरिए दबाने की कोशिश चल रही हैं। जातीय पंचायतों व धार्मिक संगठनों ने समाज के सामंती व पितृसत्तात्मक हिस्से को गोलबन्द किया और भारत ही नहीं, पूरे विश्व में औरतों को नृशंस तरीके से हिंसा का शिकार बनाया है। आज मीडिया की सचेतनता की वजह हर धर्म के नैतिकता के तथाकथित रखवाले कठघरे में खड़े किये जा पाते हैं और ऑनर किलिंग्स के मामले भी उजागर हुए हैं, वरना हजारों औरतों की चीखें चुपचाप दफन होती रही हैं।

दूसरी ओर, उच्च पदों पर आसीन लोगों द्वारा पावर का इस्तेमाल कर महिलाओं का शोषण करने वाले भी कम नहीं क्योंकि अधिकतर कानून इनका चाकर बन जाता है। रुचिका मामला चर्चा का विषय बना पर ऐसे सैकड़ों केस

हमारी नजरों से ओझल रहते हैं और न्याय के नाम पर इतना समय लग जाता है कि साक्ष्य एकत्र करना अत्यंत जटिल होता है। फिर भी ऐसे कछ चर्चित मामलों की वजह से सरकारों को मौजूदा कानून की सीमाओं पर विचार कर नए कानूनों के बारे में सोचना पड़ता है। महिलाओं पर तेजाब से हमले, कमजोर वर्ग या जाति की महिलाओं को निर्वस्त्र कर सरेआम घुमाना, स्कूलों-कॉलेजों और धार्मिक संस्थानों में असहाय महिलाओं के साथ यौन-अत्याचार, बच्चियों को अगवा कर सेक्स रैकेट्स में फंसाना, घरेलू हिंसा के नित नए रूपों का प्रयोग या कामकाजी महिलाओं का यौन उत्पीड़न, हम अब तक इनके कारणों का गहराई में जाकर निराकरण नहीं ढूंढ पाए हैं और न ही समग्र कानून का निर्माण कर सके हैं।

आज वैश्वीकरण के चलते लड़कियों और महिलाओं को पण्य सामग्री बनाया जा रहा है। विश्व मंदी के दौर में महिलाओं को वेश्यावृत्ति की ओर ढकेलना सबसे सहज उपाय है। और यह संख्या तब और बढ़ेगी जब वेश्यावृत्ति को भारत जैसे विकासशील देश में काम का दर्जा दे दिया जाएगा। औरत की आर्थिक-सामाजिक दशा सुधारने के उपाय ढूंढने के लिए उन्हें आत्मसम्मान गिराने वाले रोजगार अथवा नीति निर्माण और निर्णय के पदों पर सांकेतिक उपस्थिति देकर वाहवाही नहीं लूटी जा सकती। उन्हें सम्मान और बराबरी देनी होगी, जो बिना पितृसत्ता से लोहा लिए बिना संभव नहीं।

कुछ और सवाल हैं जिन्हें हल करना बाकी है। मसलन महिलाओं के लिए घरेलू हिंसा निरोधक कानून बना, पर इसे लागू करने वाला तंत्र कमजोर है, कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न विरोधी कानून भी बन जाएगा पर शिकायत सेलों का औपचारिक न बन जाना कैसे सुनिश्चित किया जा सकेगा? फिर गरीब या असंगठित क्षेत्र की औरतों का हौसला कैसे बढ़ाया जाए कि वे इस नौकरशाही तंत्र में इनका लाभ उठा सकें? सभी को याद होगा कि भंवरी को आवाज उठाने के लिए कितनी बड़ी कीमत चुकानी पड़ी थी? एक और बड़ा प्रश्न है विकास के वर्तमान पैराडाइम में महिलाओं को हाशिए पर डाल देना। एसईजेड, बडे प्रोजेक्ट या उद्योगों के चलते भूमि छिन जाने से खेती और पारंपरिक उद्योगों से जुड़ी औरतें कहां जाएं? वे विस्थापन और असुरक्षा की शिकार होंगी।

औरतों का चुनावी राजनीति में बराबर की हिस्सेदारी का विवाद भी जारी है। उन्हें स्थानीय निकायों में 50 प्रतिशत आरक्षण मिला तो भी काफी दिक्कतें रहीं- महिलाओं को विकास फंड न मिलना, उन पर दबंगों का हमला, उनके कामकाज में घर के पुरुषों का दखल आदि जैसी समस्याएं बनी हुई हैं। अब महिला आरक्षण विधेयक को पारित करना भी काफी टेढ़ी खीर साबित हो रहा है। यही नहीं, तमाम प्रयासों के बावजूद महिलाओं के संबंध में स्वास्थ्य, शिक्षा और लोकतांत्रिक अधिकार जैसे अहम मुद्दे हैं जिनका निराकरण जरूरी है। महिलाओं को खुद एकजुट होकर अपनी दावेदारी पेश कर इन चुनौतियों का सामना करना होगा।

मानसिक रोगियों की बढ़ती तादाद

स्वास्थ्य

ज्ञानेन्द्र रावत

विश्व में दिनोंदिन मनोरोगियों की बढ़ती तादाद देखते हुए इस सदी को मनोरोगियों की सदी कहा जाने लगा है। यदि देश के हालात का जायजा लें तो साफ हो गया है कि देश की लगभग सात फीसद आबादी मानसिक रोगों की चपेट में है। यह सब बदलती जीवन शैली से उपजे अवसाद का ही परिणाम है जो आज की बड़ी बीमारी बन चुका है। इसका निदान आसान नहीं है। हमारे केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री गुलाम नबी आजाद तक ने इस तथ्य को स्वीकारा है कि देश की आबादी का करीब छह से सात प्रतिशत हिस्सा सामान्य मानसिक बीमारियों से ग्रस्त है जबकि एक से दो प्रतिशत गंभीर मानसिक बीमारियों से ग्रस्त हैं।

भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद का अध्ययन इस बात का खुलासा करता है कि प्राकृतिक आपदाओं एवं दुर्घटनाओं के बाद उन आपदाओं से प्रभावित लोगों में से 90 फीसद अपना मानसिक संतुलन खो बैठते हैं और इनमें से 30 फीसद लोगों में यह समस्या ऐसे हादसों के छह महीने बाद तक बनी रहती है। सरकार के अनुसार यह तादाद नौ फीसद बैठती है। विडंबना यह है कि इस सबके बावजूद इनके इलाज के लिए देश में सिर्फ तीन हजार चिकित्सक ही मौजूद हैं। गौरतलब है कि इन तीन हजार में से राजग सरकार के कार्यकाल के दौरान सैकड़ों की तादाद में डॉक्टर स्टडी लीव के बहाने ब्रिटेन चले गये थे और उनमें से 10 फीसद के करीब ही स्वदेश लौटे हैं। जबकि बाकी अब भी वहीं नौकरी कर रहे हैं। मानसिक रोगियों की बदहाली का आलम यह है कि सरकार के तमाम दावों के बावजूद देश में तकरीब 90 फीसद मानसिक रोगियों का समुचित इलाज नहीं हो पाता। कुल बीमारियों में से 12 फीसद अकेले मानसिक रोगों की ही है। यदि इसमें सुधार नहीं हुआ तो आने वाले 15 सालों में यह 15 फीसद का आकड़ा पार कर जाएगी।

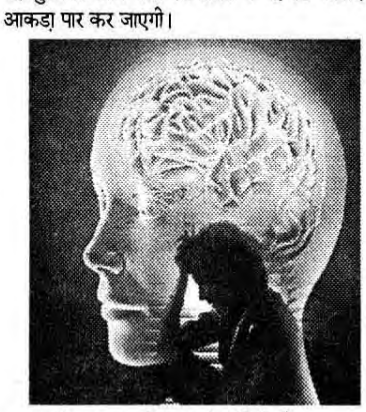

यदि स्वास्थ्य मंत्रालय की मानें तो मौजूदा हालात में देश में मानसिक रोगियों के इलाज की खातिर तात्कालिक तौर पर 11,500 प्रशिक्षित चिकित्सकों की जरूरत है। लेकिन अकेले मौलाना आजाद मेडिकल कॉलेज में 2008-2009 में केवल 600 एमबीबीएस डॉक्टरों को ही इस इलाज के लिए प्रशिक्षित किया गया है। दुख इस बात का है कि इस बाबत 1982 मे शुरू किया गया राष्ट्रीय मानसिक स्वास्थ्य कार्यक्रम अभी तक नाकाम रहा है और वह बीते 27 वर्षों में देश के मात्र 123 जिलों में ही अपनी उपस्थिति दर्ज करा पाया है। यदि चिकित्सकों व स्वास्थ्यकर्मियों की उपलब्धता के आंकड़ों पर नजर डालें तो पता चलता है कि देश को आज 17,250 मानसिक रोग विशेषज्ञों की जरूरत है। 11,500 मनोचिकित्सक चाहिए जबकि है सिर्फ 3000 के करीब। मानसिक स्वास्थ्य सहायकों की बात करें तो देश में वे सिर्फ 400 हैं जबकि मानसिक रोग चिकित्सा नर्सों की उपलब्धता मात्र 900 है जबकि होनी चाहिए करीब तीन हजार। समझ नहीं आता कि सरकार इनकी कमी कैसे पूरा कर पाएगी जबकि वर्तमान में सालाना 280 मनोरोग चिकित्सक और मात्र 50 मनोरोग विशेषज्ञ ही तैयार हो पाते हैं। मानसिक स्वास्थ्य सहायकों की बात करें तो वह मात्र 25 और 185 नर्सें ही सालाना यह प्रशिक्षण प्राप्त कर पाती हैं।

स्वास्थ्य मंत्रालय की योजना है कि वह 11 वीं पंचवर्षीय योजना में 30 मेडिकल कॉलेजों में मनोचिकित्सकों, मनोरोग विशेषज्ञों, मानसिक स्वास्थ्य सहायकों व नर्सों की सीटों में इजाफा कर यह कमी दूर करने का प्रयास करेगी। यदि यह योजना कार्यान्वित हो पाती है तो हर साल 60 मनो चिकित्सक, 240 मनोरोग विशेषज्ञ, 240 मानसिक स्वास्थ्य सहायक और 600 नर्सें ही तैयार हो पाएंगी। यह तादाद मौजूदा चिकित्साकर्मियों से अलग होगी लेकिन इसके बावजूद मनोरोग चिकित्सकों, विशेषज्ञों, सहायकों और नर्सों की कमी पूरी होने में सालों लग जाएंगे। जिस रफ्तार से मनोरोगियों की तादाद बढ़ रही है, उसे देखते हुए तब तक वह बढ़कर डेढ़ गुनी हो जाएगी।

गौरतलब है कि सरकार को दसवीं योजना में इस हेतु 139 करोड़ की राशि मिली लेकिन विडम्बना यह रही कि स्वास्थ्य मंत्रालय उसमें से मात्र 106 करोड़ ही खर्च कर सका। अब 11 वीं योजना में इसका बजट 1000 करोड़ हुआ है। देखना है कि सरकार इसका इस्तेमाल किस तरह कर पायेगी? इन हालात में अब भले सरकार राष्ट्रीय मानसिक बीमारियों के प्रकोप को देखते हुए मानसिक स्वास्थ्य कार्यक्रम के तहत मनोरोग विशेषज्ञों की कमी दूर करने का उत्कृष्ट केन्द्र बनाने व मौजूदा मानसिक स्वास्थ्य केन्द्रों को पहले से बेहतर बनाये जाने और भविष्य में कुछ मौजूदा संस्थानों को बेहतर बनाकर 1756 अतिरिक्त मानसिक रोग विशेषज्ञ तैयार किए जाने का दावा करे लेकिन मनोरोगियों की बढ़ती समस्या पर काबू पाना संभव नहीं लगता।

बदहाल स्वास्थ्य सेवाएं और बेहाल लोग

मुक्त बाजार के इस दौर में जब अर्थव्यवस्था के विकास की तेज गति के दावे किए जा रहे हैं, तो विडंबना ही कही जाएगी कि विश्व पटल पर भारतीय स्वास्थ्य सेवा व्यवस्था भयावह अराजकता एवं अव्यवस्था का शिकार बनती जा रही है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार देश में नौ लाख से भी अधिक लोग हर साल पानी से पैदा होने वाले रोगों से मरते हैं। देश के बच्चों की आधी आबादी कुपोषण का शिकार है, जिसमें से लगभग 56 लाख बच्चे प्रतिवर्ष मौत का ग्रास बनते हैं। यह दुनिया में कुपोषण से होने वाली मौतों का आधा हिस्सा है। पांच लाख लोग हर वर्ष तपेदिक का शिकार होकर मारे जाते हैं। एक लाख माताएं हर साल प्रसव के समय मौत का शिकार होती हैं। पांच करोड़ अस्सी लाख मधुमेह के रोगियों के साथ भारत मधुमेह की विश्व राजधानी बनने की ओर अग्रसर है। मलेरिया, हैजा और डेंगू जैसी महामारियों से मरने वाले लोगों की संख्या भी काफी बड़ी है। ऐसे में यदि भारत आने वाले दिनों में रोगियों की वैश्विक राजधानी बन जाए, तो कोई आश्चर्य नहीं होगा। यह सरकार की बदलती हुई प्राथमिकताओं का नतीजा है।

महेश राठी

लेखक
टिप्पणीकार
हैं

स्वास्थ्य सेवा व्यवस्था सरकार के लिए राजस्व देने वाले एक व्यवसाय से ज्यादा कुछ नहीं है। इसकी कीमत देश की गरीब आबादी को अपनी जान देकर चुकानी पड़ रही है।

आजादी के फौरन बाद देशवासियों के लिए एक बेहतर स्वास्थ्य सेवा व्यवस्था की दिशा में काम की शुरुआत हुई। साठ का दशक आते-आते सरकारी प्रोत्साहन से निजी क्षेत्र ने अपना प्रभाव बढ़ाना शुरू किया और नब्बे के दशक तक पहुंचते सार्वजनिक क्षेत्र की स्वास्थ्य सेवा व्यवस्था लगभग निष्क्रिय हो गई। तमाम आश्वासनों के बावजूद पिछले बजट में स्वास्थ्य सेवाओं पर महज 0.9 प्रतिशत खर्च का ही प्रावधान था। स्वास्थ्य सेवाओं पर भारत का खर्च जीडीपी के कुल पांच प्रतिशत से भी कम है जबकि अमेरिका अपने सकल घरेलू उत्पाद का सोलह प्रतिशत, फ्रांस ग्यारह और जर्मनी 10.4 प्रतिशत खर्च करता है।

इसकी वजह यह है कि सरकार की चिंता देश के नागरिकों के स्वास्थ्य से ज्यादा बड़े निगमों के मुनाफे की है। इसीलिए एक कारगर और बेहतर स्वास्थ्य सेवा व्यवस्था की निष्क्रियता पर सरकार की खामोशी उसकी बदनीयती और वर्ग चरित्र को जाहिर करती है। देश में फिलहाल स्वास्थ्य सेवाओं का व्यवसाय 360 करोड़ डॉलर प्रतिवर्ष का है जिसमें सरकार की भागीदारी महज उन्नीस प्रतिशत है और वह लगातार घटती ही जा रही है। दरअसल, सरकार उदारवादी आर्थिक नीतियों पर चलते हुए कल्याणकारी राज्य की अवधारणा से दूर जा चुकी है। स्वास्थ्य सेवा व्यवस्था उसके लिए राजस्व देने वाले एक व्यवसाय से ज्यादा कुछ नहीं है। इसकी कीमत देश की गरीब आबादी को अपनी जान देकर चुकानी पड़ रही है। अब समय आ गया है जब लाखों बेगुनाह मौतों पर रोक लगाई जाए। इसके लिए स्वास्थ्य सेवा को एक राजनीतिक एजेंडा बनाकर स्वास्थ्य नीति से स्वास्थ्य अधिकार की मांग की ओर बढ़ना होगा और आगामी बजट में स्वास्थ्य सेवा खर्च की हिस्सेदारी को बढ़ाने से इसकी शुरुआत होनी चाहिए।

रोगियों को मिलती है सिर्फ निराशा

सरकार इस बात का अहसास कराने में कोई कोरकसर नहीं छोड़ती कि देश की जनता खुशहाल हो रही है और सरकार आम आदमी का ध्यान रख रही है। लेकिन देश के प्रधानमंत्री के आवास और कार्यालय से तकरीबन बीस किलोमीटर की दूरी पर औसतन हर दो दिन पर मानसिक रूप से बीमार रोगी बेहतर इलाज और रहन सहन के अभाव में दम तोड़ रहे हैं।

राजधानी दिल्ली में मानसिक रूप से बीमार लोगों की आश्रय स्थली आशा किरण में लगातार हो रही मौत से विकास और खुशहाली के सारे दावों की पोल खुल रही है । राजधानी में लगभग दो महीने में 26 मंदबुद्धि और मानसिक रूप से कमजोर और बीमार लोगों की मौत ने सरकार की कार्यप्रणाली पर गंभीर सवाल खड़े कर दिए हैं। दिल्ली सरकार के समाज कल्याण मंत्रालय की यह जिम्मेदारी है कि वो ये सुनिश्चित करे कि मानसिक रूप से बीमार लोगों को पर्याप्त सुविधाएं मिले। लेकिन आशा किरण होम में क्षमता से दुगने मरीज ठूंस दिए गए हैं, और भ्रष्टाचार की वजह से उनके रहन सहन और बीमारी के इलाज की पर्याप्त व्यवस्था नहीं है ।

अनंत विजय

लेखक
पत्रकार हैं

देश की राजधानी दिल्ली में मानसिक रूप से बीमार लोगों की यह हालत है तो देश के अन्य इलाकों और सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों में इन रोगियों की हालत क्या होगी आप अंदाजा लगा सकते हैं।

हर मौत के बाद जब सवाल खड़े होते हैं तो जांच की बात कर सरकार अपना पल्ला झाड़ लेती है। देश की राजधानी दिल्ली में मानसिक रूप से बीमार लोगों की यह हालत है तो देश के अन्य इलाकों और सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों में इन रोगियों की हालत क्या होगी आप अंदाजा लगा सकते हैं।

दरअसल ऐसा करके शीला दीक्षित सरकार संविधान का भी अनादर कर रही है। देश के संविधान की प्रस्तावना भारतवासियों को समानता का अधिकार प्रदान करती है। संविधान साफ तौर पर यह कहता है कि धर्म, जाति, जन्म स्थान, लिंग के आधार पर कोई भी भेदभाव नहीं किया जा सकता है। प्रतिष्ठापूर्वक जीवन के अधिकार की गारंटी सिर्फ भारतीय संविधान ही नहीं बल्कि कई अंतरराष्ट्रीय संधियां भी देती हैं। अस्सी के दशक में मानसिक रूप से बीमार लोगों के अधिकारों को लेकर अंतरराष्ट्रीय स्तर पर जोरदार मुहिम चली थी। नतीजा यह हुआ कि संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा ने मानसिक रूप से बीमार लोगों को सम्मानपूर्व जीने के अधिकारों को लेकर एक घोषणापत्र को मंजूरी दी। इस घोषणापत्र की धारा पच्चीस के मुताबिक हर व्यक्ति को बेरोजगारी, बीमारी, विकलांगता, बुढ़ापा या फिर कोई ऐसी वजह जिस पर उसका नियंत्रण ना हो, की हालात में जीने के अधिकार की सुरक्षा दी जाएगी। हमारे देश पर भी इसे लागू करने की जिम्मेदारी है।

मानसिक रोग एक ऐसी ही परिस्थिति है जिसमें बीमार व्यक्ति को यह नहीं पता होता है कि वो क्या और क्यों कर रहा है। उसे एक ऐसे वातावरण की जरूरत होती है जहां वो अपने आपको सहज और सुरक्षित महसूस कर सके। इसी तरह के वातावरण के निर्माण के लिए बनाए गए आशा किरण में इन रोगियों को सिर्फ निराशा की किरण ही नजर आती है।

मानसिक रूप से बीमार लोगों को लेकर सरकार बेहद संवेदनहीन रहती है और वोट बैंक की राजनीति करने वाली राजनीतिक पार्टियों को भी इन मंदबुद्धि लोगों की पीड़ा का अहसास तक नहीं होता है। हमारा समाज भी इनके प्रति बहुधा उदासीन ही रहता है और मंदबुद्धि व बीमार व्यक्ति को परिवार पर बोझ समझा जाता है। उन्हें पागल मानकर मानसिक आरोग्यशाला में भर्ती करवाकर परिवार के लोग जैसे छुटकारा पाना चाहते हैं जबकि उन्हें यह नहीं मालूम कि अगर मानसिक रूप से बीमार मरीज अपने घर में रहेगा तो उसमें सुधार जल्द होगा।

anant.ibn@gmail.com

देश में क्या है मनोरोगियों की स्थिति

हाल ही में जयपुर, राजस्थान में इंडियन साइकियाट्रिस्ट सोसायटी की कांफ्रेंस हुई थी। कांफ्रेंस में कहा गया था कि देश में साइकियाट्रिस्ट न होन पर चिंता व्यक्त की गई थी। हालत यह है कि झारखंड जब नया राज्य बना तो वहां एक भी मनोचिकित्सक नहीं था। देश में मानसिक रोगियों के इलाज के लिए जितने मनोचिकित्सकों और अस्पतालों की जरूरत है उसका एक प्रतिशत भी इंतजाम नहीं है। वर्तमान में 42 मानसिक रोग अस्पताल हैं जिसमें बमुश्किल 20 हजार बेड ही उपलब्ध हैं। देश में एक हजार में 10 से 20 लोग मानसिक रोगों की ऐसी स्थिति में हैं जिसको नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता लेकिन अस्पतालों और मनोचिकित्सकों के अभाव में वह जिंदा है तो भगवान भरोसे। देश में मनोचिकित्सकों की संख्या 3,500 से 4,000 के बीच ही है लेकिन देश में बढ़ते मानसिक रोगियों को देखते हुए वर्तमान मरीजों के लिए ही कम से 32 हजार मनोचिकित्सक चाहिए। इसके अतिरिक्त 23,000 मानसिक स्वास्थ्य सहायक और 3,000 मानसिक रोग चिकित्सा नर्स भी चाहिए जिनकी वर्तमान में उपलब्धता क्रमश 400 और 900 ही है।

इसका एक कारण यह भी है कि देश के चिकित्सा संस्थानों में सरकार के करोड़ों खर्च होने के बाद जो मानसिक चिकित्सक तैयार हो रहे हैं वह बेहतर सैलरी और भविष्य के लिए विदेशों की ओर कूच कर रहे हैं। मानसिक स्वास्थ्य कार्यक्रम की जोरशोर से शुरुआत 1982 में ही कर दी गई थी लेकिन मनोचिकित्सकों की पर्याप्त उपलब्धता न हो पाने के कारण यह कार्यक्रम अभी 123 जिलों तक ही पहुंच सका है।

हालात यह हैं कि हमारा देश मनोचिकित्सा के क्षेत्र में कई एशियाई देशों से पीछे छूटता जा रहा है। 10 लाख आबादी पर देश में मनोचिकित्सकों की संख्या का अनुपात 0.4 है जबकि मालदीव में तीन है। इसी तरह 10 लाख आबदी पर देश में मानसिक रोग चिकित्सा नर्सों की संख्या का अनुपात 0.4 है तो श्रीलंका में 18 है। हालत यह है कि दसवीं योजना में मानसिक रोगियों के लिए निर्धारित 139 करोड़ में 106 करोड़ ही खर्च हो सका। 11वीं योजना में बजट बढ़ाकर हजार करोड़ किया गया है।

इलाज हो तो जी सकेंगे जीवन लेकिन...

आशा किरण में कई बच्चे हैं जिनका सही इलाज हो तो वे सामान्य जीवन जी सकेंगे। उनका जीवन आम बच्चों की तरह नहीं हो सके तो भी वे काफी हद तक सहज जीवन यापन कर सकेंगे। यहां मानसिक रूप से कमजोर बच्चों को रखा जाता है। ऐसे बच्चे जिनमें सोचने-समझने की क्षमता कम होती है। प्रोग्राम कोआर्डिनेटर के अनुसार जिन बच्चों का 'आई क्यू' लेवल 90 से कम होता है उन्हें यहां रखा जाता है। पुलिस द्वारा ही ऐसे लोगों को भर्ती कराया जाता है। चाइल्ड वेलफेयर कमेटी इन बच्चों को यहां रखने की अनुमति देती है जिसके बाद भर्ती किया जाता है। बगैर कमेटी के अनुमति के यहां बच्चे नहीं रखे जा सकते। यहां कई ऐसे बच्चे हैं जिनका 'आई क्यू' लेवल 85 है। यानी जिन्हें मामूली मानसिक बीमारी। डॉक्टरों की राय है कि ऐसे बच्चों का यदि सुनियोजित तरीके से इलाज किया जाए तो वे कुछ समय बाद वह सामान्य जीवन जी सकेंगे। इस तरह के बच्चों में समझने-सोचने की क्षमता धीमी होती है। ऐसा नहीं है कि वे समझ ही नहीं पाते हैं। इस तरह यहां ऐसे बच्चों को अलग रख कर उन्हें इलाज कराया जाए तो आने वाले समय में वे अपना काम खुद कर सकेंगे और थोड़ा बहुत काम कर उपार्जन भी कर सकेंगे। इससे उनका मन भी लगा रहेगा और अपने को मुख्य धारा से जुड़ा महसूस कर सकेंगे। दरअसल, गरीब परिवार मंद बुद्धि बच्चों की परवरिश नहीं कर पाते हैं। ऐसे बच्चे उनके लिए बोझ बन जाते हैं। फिर परिवार के लोग इन बच्चों को सड़क किनारे छोड़ देते हैं जिन्हें बाद में पुलिस यहां पर पहुंचा देती है।

आशा किरण में रह रहे लोगों के मनोरंजन की व्यवस्था नहीं है। कुछ एक कमरों में टीवी रखा हुआ है लेकिन वह भी या तो खराब पड़ा है या बंद रहता है। यहां रहने वाले कैदियों से भी बदतर जीवन जी रहे हैं। कैदियों को तो फिर भी पढ़ने के लिए लाइब्रेरी और अन्य सुविधाएं उपलब्ध करवाई जाती है। लेकिन यहां ऐसा कुछ नहीं है। बच्चों के खेलने-कूदने के लिए खिलौने और मनोरंजन का कोई साधन नहीं है। पढ़ने-लिखने की कोई व्यवस्था नहीं है। बच्चों के क्रिया-कलापों के लिए कोई जगह नहीं है। यदि बच्चे बाहर खेलने निकलते हैं तो इससे निरीक्षकों को उन्हें सम्हालना पड़ता है जिसे वह अपनी मुसीबत और आराम में खलल समझते हैं। तैनात कर्मचारी अपनी ड्यूटी पूरा कर खाना पूर्ति करने में लगे होते हैं। सुबह से शाम तक सर्दी, गर्मी सभी मौसमों में एक ही कमरे में बैठकर बिताना कितना कष्टदायक हो सकता है इसका अंदाजा यहां रह रहे बच्चे ही लगा सकते हैं। लेकिन उनके इस दर्द को महसूस करने वाला कोई नहीं होता।

देश की राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली के हजारों-लाखों बेघर लोगों में से 90 फीसदी के लिए किसी भी प्रकार का कोई आसरा नहीं होता है। खुला आसमान ही उनकी एकमात्र छत होती है। सरकारी नाकामी से जामा मस्जिद के आसपास रहने वाले उद्यमियों ने फायदा उठाना और पैसा कमाना सीख लिया है। वे बेघर लोगों को प्रति रात दस-दस रुपए में रजाई और बिस्तर भाड़े पर देते हैं।

सर्दियों में सड़कों पर

हर्ष मंदर
लेखक भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी रहे हैं।

दिल्ली की सड़कों पर रहने वालों के लिए यह बहुत ही निर्मम जाड़ा है। धुंधभरी लंबी रातों में वे सूखी पत्तियों व टहनियों से जलाए गए अलाव के पास घुटनों के बल बैठकर ठंड को भगाने की कोशिश करते। कभी-कभी कई लोग एक साथ एक ही पतले से कंबल में एक-दूसरे से सटकर बैठ जाते। कई बार आवारा कुत्ते भी पास में दुबक आते। यह सब शरीर को गर्म रखने की कवायद होती। जाड़े की हर रात मरने वाले अज्ञात लोगों की संख्या में कुछ और इजाफा हो जाता है। इनमें वे रिक्शा खींचने वाले, गुब्बारे बेचने वाले, हिंसक पतियों द्वारा सड़कों पर छोड़ दी गई महिलाएं, बुरे बर्ताव से बचने के लिए भागे बच्चे और परित्यक्त बुजुर्ग होते हैं जो ठंड के साथ अपने संघर्ष को जारी नहीं रख पाते। देश की राष्ट्रीय राजधानी के इन हजारों-लाखों बेघरों में से 90 फीसदी के लिए किसी भी प्रकार का कोई आसरा नहीं होता है। खुला आसमान ही उनकी एकमात्र छत होती है।

सरकारी नाकामी से जामा मस्जिद के आसपास रहने वाले उद्यमियों ने फायदा उठाना और पैसा कमाना सीख लिया है। वे बेघर लोगों को प्रति रात दस-दस रुपए में रजाई और बिस्तर भाड़े पर देते हैं। वे खाली पड़ी सरकारी जमीन (जहां सरकार चाहती तो कई शेल्टर बनवा सकती थी) को हथियाकर वहां अस्थाई शेल्टर बना लेते हैं, जिसमें प्लास्टिक शीट की छत तो होती है, लेकिन दीवारें नहीं। उसमें रजाई व बिस्तर सहित छोटी-छोटी खटिया लगवा दी जाती हैं। जो बेघर वहन कर सकते हैं, उन्हें एक रात के 30 रुपए चुकाकर इन शेल्टरों में सोने दिया जाता है। इन निजी शेल्टरों में सोने का बोनस यह होता है कि पुलिस उन्हें तंग नहीं करती है, क्योंकि ऐसा न करने के लिए पुलिस को पैसा दे दिया जाता है।

शीत ऋतु में बेघर लोगों के सामने सीमित विकल्प होते हैं। यदि उन्हें शरीर को गर्म रखने के लिए रजाई चाहिए तो एक समय का भोजन छोड़ना होगा। लेकिन अनुसंधान कहते हैं कि जिन लोगों का सामना अधिक ठंड से होता है, उन्हें शरीर के तापमान को बनाए रखने के लिए अधिक कैलोरी की जरूरत पड़ती है। हमें रिक्शा चालक मोहम्मद शरीफ मिला, जो देर रात को भी मुसाफिर की तलाश में था। उसने बताया, 'मैं 20 रुपए और कमाना चाहता हूं ताकि रजाई और बिस्तर भाड़े पर ले सकूं। मैं रोजाना 150 रुपए कमाता हूं, कभी-कभार इससे भी कम। इसमें से 45 रुपए रिक्शा मालिक को दे देता हूं। एक समय के भोजन पर 40 रुपए खर्च हो जाते हैं। मुझे यहां तक कि पीने के पानी के लिए और नहाने के लिए भी पैसे खर्च करने पड़ते हैं। यहां हर चीज के लिए पैसा चाहिए। कभी-कभी मेरे पास भोजन के लिए भी पैसा नहीं होता। कई बार मैं रजाई भी भाड़े पर नहीं ले पाता हूं और तब सोना बहुत मुश्किल हो जाता है।'

ऐसे भी कुछ बेघर होते हैं, जो कुछ भी नहीं कमा पाते। मानसिक रूप से विक्षिप्त कुछ महिलाओं को भाड़े की रजाई में देखकर हमें आश्चर्य हुआ। लोगों ने बताया कि कई बेघर हर रात थोड़ा-थोड़ा पैसा इकट्ठा करते हैं ताकि उन लोगों के लिए भाड़े पर रजाई ले सकें, जो बूढ़े और असमर्थ हैं। बेघरों का कहना था, 'यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो इतनी ठंड में वे जी भी नहीं पाएंगे।' वहीं उन्होंने हमें रजाई में दुबकी एक महिला दिखाई जिसके बारे में उन्हें भय था कि वह इसी रात मर जाएगी। जामा मस्जिद के पास सोने वाले दिहाड़ी मजदूरों ने उसे कुछ दिन पहले देखा था। वह कुछ कदम ही चल पाई थी कि गिर पड़ी। उन्होंने उसे खाना खिलाया, पर वह कुछ भी बोल नहीं सकी। सामाजिक कार्यकर्ता दीपक दास हमारे साथ थे। उन्होंने मोबाइल पुलिस वैन को फोन किया। पुलिस तत्काल आ गई और उस महिला को सरकारी अस्पताल ले जाने को राजी हो गई। दीपक की वजह से अस्पताल ने उसे भर्ती कर लिया। दीपक इससे पहले भी कई बेघरों व गरीबों को भर्ती करने के लिए अस्पताल कर्मियों के साथ लड़ चुके हैं। लेकिन अस्पताल से बाहर आते समय हम जानते थे कि दिल्ली की सड़कों पर कड़कड़ाती ठंड में कितने ही लोग यूं ही मौत के मुंह में चले जाते होंगे।

बेघरों में बड़ी संख्या उन लोगों की है, जिनकी झुग्गियां सरकार ने गिरवा दीं और उनके लिए कोई वैकल्पिक व्यवस्था भी नहीं की। ऐसे ढाई सौ परिवार हैं, जो निजामुद्दीन के सार्वजनिक बगीचे में सोते हैं।

निजामुद्दीन में हमारी भेंट एक अधेड़ उम्र के बेघर व्यक्ति से हुई, जिसका धंधा लावारिस शवों का अंतिम संस्कार करना था। सड़ते लावारिस शवों के बारे में कभी उसे पुलिस द्वारा तो कभी अन्य बेघर लोगों द्वारा सूचित किया जाता। वह सबसे पहले मृत व्यक्ति के धर्म का पता लगाता है। यदि मृतक हिंदू है तो वह उसे श्मशान घाट ले जाकर उसका दाह संस्कार करता है। यदि मुस्लिम होता है तो वह उसे कब्रिस्तान ले जाता है। स्थानीय लोग और उनमें भी अधिकांश बेघर लोग अंतिम संस्कारों के लिए पैसा एकत्र करके उसे देते हैं। जो पैसा बच जाता, उसी से वह अपना पेट भरता है।

हमने पाया कि बेघरों में बड़ी संख्या उन लोगों की है, जिनकी झुग्गियां सरकार ने गिरवा दीं और उनके लिए कोई वैकल्पिक व्यवस्था भी नहीं की। ऐसे ढाई सौ परिवार हैं, जो निजामुद्दीन के सार्वजनिक बगीचे में सोते हैं। इनमें ही एक कुसुम है, जो दशकों पहले काम की तलाश में असम से दिल्ली चली आई थी। उसने एक झुग्गी बना ली, लेकिन कुछ साल पहले उसे गिरा दिया गया। तब से वह हर मौसम में उस बगीचे में ही रात बिताती है। सड़कों पर एक अकेली महिला का रहना बहुत ही मुश्किल है, इसलिए उसने निजामुद्दीन की कई एकल महिलाओं की तरह अनेक पुरुषों को अस्थाई साथी बनाना स्वीकार कर लिया। वह घरों में काम तलाशती है, लेकिन हर माह छह सौ रुपए से ज्यादा नहीं कमा पाती। इसलिए वह और उसके बच्चे अक्सर दरगाह पर भीख मांगकर पेट भरते हैं। लेकिन वह अपने एक लड़के को एक निजी स्कूल में भेजने पर हर महीने बहुमूल्य 120 रुपए खर्च करती है। अब वह अपनी एक बेटी को भी निजी स्कूल में भेजने की तैयारी कर रही है।

हमने जब बेघरों से पूछा कि दिल्ली में उनके लिए सबसे कठिन मौसम कौन सा होता है तो उनमें से कई ने जाड़ा बताया, क्योंकि इससे उनकी जिंदगी ही दांव पर लग जाती है। हालांकि कुछ ने कहा कि मानसून इससे भी बदतर होता है। जब रात में बारिश होती है, तब उनके लिए न तो सोना संभव हो पाता है और न ही कुछ पकाना। जो थोड़ा-बहुत सामान होता है, वह भी भीग जाता है।

इन सबके बीच हम एक ऐसी महिला से मिले, जिसने अपने 17 साल निजामुद्दीन में प्लास्टिक शीट के नीचे बिता दिए। लेकिन उसकी जिंदगी तब सहनीय हो गई, जब उसने एक बेघर बच्चे को गोद ले लिया और उसका लालन-पालन करने का फैसला किया। अब वह बड़ा हो चुका है और उसके प्रति इतना समर्पित है कि उस महिला का अपना कोई बच्चा भी शायद ही इतना समर्पित होता।

manderharsh@gmail.com

रैन-बसेरों की संख्या बढ़ाना जरूरी

भारत डोगरा
लेखक स्वतंत्र पत्रकार हैं।

इस शीतलहर में भी यदि बहुत से लोग फुटपाथ पर या खुले में सोने के लिए मजबूर हैं तो इसका मुख्य कारण यह है कि हमारे शहरों में अभी बेघर लोगों के लिए बनाए गए रैन बसेरों की बहुत कमी है। इस समय हमारे देश के 10 प्रतिशत बेघर लोगों के लिए भी रैन बसेरों की व्यवस्था नहीं हो सकी है।

बेघर लोगों की संख्या की तुलना में रैन बसेरों की संख्या कितनी है, यह पता लगाने का सबसे विस्तृत प्रयास आश्रय अधिकार अभियान नामक संस्था ने वर्ष 2000-01 में किया। अभियान ने दिल्ली में लगभग 52765 बेघर लोगों की गिनती की जिसके आधार पर अनुमान लगाया गया कि दिल्ली में कुल आश्रयविहीन या बेघर लोगों की संख्या एक लाख से अधिक ही होगी, कम नहीं। इसके बाद अभियान ने पता लगाया कि दिल्ली नगर निगम द्वारा बनाए गए इन रैन बसेरों में कितने लोगों के लिए रात बिताने की व्यवस्था है तो पता चला कि मात्र 2601 लोगों के लिए यह व्यवस्था है। यानी 100 जरूरतमंद बेघर लोगों में से मात्र 3 लोगों के लिए ही आश्रय की व्यवस्था दिल्ली की सरकार ने की थी।

बेघर लोगों की संख्या की तुलना में रैन बसेरों की संख्या कितनी है, यह पता लगाने का सबसे विस्तृत प्रयास आश्रय अधिकार अभियान नामक संस्था ने वर्ष 2000-01 में किया।

इस तथ्य के सामने आने से आश्रय स्थल की संख्या बढ़ाने के लिए दिल्ली में दबाव बना। दिल्ली सरकार ने सर्दियों के दिनों में टैंट के अनेक आश्रय स्थल स्थापित करने आरंभ किए। पर केवल अल्पकालीन, कुछ सप्ताहों के लिए बनाए गए यह आश्रय स्थल पर्याप्त नहीं हैं। हालांकि बेघर लोगों की सबसे विकट स्थिति शीत लहर के दिनों में होती है, पर बरसात के दिनों में भी उनकी कठिनाईयां बहुत बढ़ जाती हैं। थोड़ा सा भी पानी गिर जाए तो फुटपाथ पर सोया नहीं जा सकता है। फिर टैंटों में जरूरी सुविधाएं भी नहीं दी जा सकती हैं। अतः हर दृष्टि से स्थाई रैन बसेरों के निर्माण में राष्ट्रीय स्तर पर तेजी लाना जरूरी है।

आश्रय अधिकार अभियान ने बेघर लोगों व कर्मचारियों से बातचीत कर यह पता लगाया कि रैन-बसेरों में निम्न सुविधाओं की व्यवस्था करना आवश्यक है - जितने लोगों के रहने के लिए व्यवस्था है, उनके लिए पर्याप्त कंबल, फर्श पर बिछाने के लिए पर्याप्त संख्या में दरी, आवास क्षमता के अनुकूल शौचालय की सुविधा, शौचालय व स्नानघर में पानी की व्यवस्था, पीने के पानी की उचित व्यवस्था, पंखे तथा कूलर की उपलब्धि, सामान रखने के लिए लाकर की सुविधा, प्राथमिक उपचार का किट, खिड़कियों में जाली की व्यवस्था करना आदि।

अधिकारी सब तरह की मरम्मत व रख-रखाव मुस्तैदी से करवाएं, शौचालयों व स्नानघरों को ठीक से साफ करवाने की व्यवस्था कराएं व कंबलों व उनके कवर को उचित समय पर साफ किया जाए। समय-समय पर रख-रखाव उचित बनाए रखने के लिए निरीक्षण होना चाहिए। विशेषकर शीत लहर के दिनों में रैन-बसेरों में प्रवेश निःशुल्क कर देना चाहिए।

सुप्रीम कोर्ट ने सभी राज्यों को जारी किया नोटिस

देश भर में बनें रैनबसेरे

नई दिल्ली, (एसएनबी)। दिल्ली में रातों रात रैनबसेरों का इंतजाम करने के आदेश के एक सप्ताह बाद सुप्रीम कोर्ट ने देशभर के बेघरों के लिए शेल्टर का प्रबंध करने के बारे में सभी राज्यों और केंद्र शासित प्रदेशों को नोटिस जारी किया।

जस्टिस दलवीर भंडारी और केएस राधाकृष्णन की बेंच ने सभी राज्यों से दो हफ्ते के अंदर जवाब दायर करने के लिए कहा। अदालत द्वारा नियुक्त कमिश्नर डा. एनसी सक्सेना और हर्ष मंडेर की रिपोर्ट के आधार पर बेंच ने देशभर में बेघरों के लिए किए गए इंतजामों पर राज्य सरकारों से जवाब मांगा। रिपोर्ट में कहा गया है कि एक लाख की आबादी में एक रैनबसेरा स्थापित किया जाना चाहिए। रैनबसेरे सिर्फ सर्दियों में ही नहीं, बल्कि पूरे साल के लिए स्थापित किए जाने चाहिए।

इनमें रहनेवाले लोगों के लिए अंत्योदय राशनकार्ड भी जारी करना चाहिए, ताकि भूख के कारण उनकी मौत न हो। इसके अलावा सामुदायिक रसोई

शीर्ष अदालत ने गरीबों की ली सुध, न कोई जाड़े से मरे और न ही भूख से

का भी प्रबंध किया जाए, जहां कम पैसे में गरीबों को भोजन मिल सके। दिल्ली सरकार ने बेघरों के लिए 'आपकी रसोई' के नाम से रियायती दर पर भोजन उपलब्ध कराने के लिए 13 वितरण केंद्र खोले हैं, लेकिन इनसे पांच फीसद बेघरों को ही खाना मिल पाता है। रिपोर्ट में कहा गया है कि संविधान के अनुच्छेद 21 के तहत हर नागरिक को सम्मान के साथ जीने का अधिकार दिया गया है। बेघरों के लिए न्यूनतम सुविधा उपलब्ध कराना सरकार का काम है। रिपोर्ट में लखनऊ, मुंबई और पटना का जिक्र किया गया है, जहां गरीबों के लिए रैनबसेरों का इंतजाम नहीं है। कड़ाके की सर्दी के कारण उत्तर प्रदेश में इस साल 450 लोगों की मौत हुई, जबकि बिहार में 40 और झारखंड में 30 लोग ठंड में ठिठुरकर मर गए। गौरतलब है कि सुप्रीम कोर्ट ने 20 जनवरी को दिल्ली में पर्याप्त रैनबसेरे स्थापित करने का आदेश दिया था। दिल्ली सरकार द्वारा उठाए कदमों पर सुप्रीम कोर्ट ने संतोष व्यक्त किया। बेंच ने बुधवार को डीडीए को भी नोटिस जारी किया। बेंच ने कहा कि मास्टर प्लान 2021 में प्रति एक लाख आबादी के लिए एक रैनबसेरे की बात कही गई है। डीडीए से पूछा गया है कि मास्टर प्लान के तहत रैनबसेरों की स्थापना की गई या नहीं।

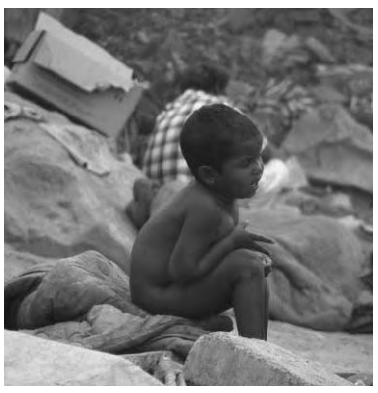

सेना में स्त्रियों से भेदभाव क्यों

नजरिया

अलका आर्य

हाल ही में दिल्ली उच्च न्यायालय ने एक अहम व्यवस्था में वर्ष 2006 से पूर्व सैन्य सेवाओं में भर्ती महिला अधिकारियों को पुरुष सहकर्मियों की तरह स्थायी कमिशन देने का जो आदेश दिया है, वह स्वागत योग्य है। सात साल की लंबी कानूनी लड़ाई के बाद सुनाया गया अदालती फैसला महज लैंगिक न्याय के दायरे तक ही सीमित नहीं है। यह कोई खैरात नहीं, बल्कि महिला अधिकारियों द्वारा मांगे गए सांविधानिक अधिकारों को लागू कराना है। गौरतलब है कि वर्ष 2003 में कुछ महिला अधिकारियों ने नौकरी की सेवा शर्तों में उनके साथ बरते गए भेदभाव के खिलाफ कानूनी जंग की शुरुआत की थी, जिसका नतीजा इस ऐतिहासिक आदेश के रूप में हमारे सामने है।

अदालत में भेदभाव के खिलाफ याचिका दायर करने वाली महिला याचिकाकर्ताओं की शिकायत जायज थी। दरअसल वायुसेना ने भर्ती वाले अपने विज्ञापन में वायदा किया था कि शॉर्ट सर्विस कमिशन अधिकारियों को पांच साल की नौकरी पूरी करने और खाली पदों की उपलब्धता और उम्मीदवार की अनुकूलता को ध्यान में रखते हुए स्थायी कमिशन (साठ साल तक नौकरी) का प्रस्ताव दिया जाएगा। मगर जब इन महिला अधिकारियों ने पांच साल की नौकरी के बाद स्थायी कमिशन के लिए आवेदन किया, तो उन्हें खारिज कर दिया गया, जबकि उनके पुरुष सहकर्मियों को स्थायी कमिशन दे दिया गया। महिला अधिकारियों का सवाल यह था कि एक ही विभाग में बराबर योग्यता और अनुभव के साथ काम करने वाले महिला व पुरुष अधिकारियों में से केवल पुरुषों को ही स्थायी कमिशन क्यों दिया गया, जबकि वे भी बराबर की हकदार हैं? वायुसेना की महिला अधिकारियों की तर्ज पर थलसेना की शॉर्ट सर्विस कमिशन वाली कुछ महिला अधिकारियों ने भी अदालत से स्थायी कमिशन वाले मुददे पर इंसाफ दिलाने की गुहार की थी। दिल्ली उच्च न्यायालय ने अपने बहुप्रतीक्षित फैसले में स्पष्ट कर दिया कि गैर बराबरी महिलाओं के सांविधानिक अधिकारों का उल्लंघन है। उसने यह भी साफ कर दिया कि उसके इस फैसले से सिर्फ याचिकाकर्ता ही लाभान्वित नहीं होगी, बल्कि वे महिला अधिकारी भी लाभान्वित होंगी, जो अभी रिटायर होने वाली उम्र तक नहीं पहुंची हैं।

दिल्ली उच्च न्यायालय ने महिला सैनिक अधिकारियों को स्थायी कमिशन देने का फैसला सुनाया तो है, किंतु सेना में जैसा माहौल है, उसे देखते हुए कितनी उम्मीद की जाए?

दिल्ली उच्च न्यायालय के फैसले से बेशक सेना को लैंगिक पूर्वाग्रहों से उबरने का एक मौका मिला है। लेकिन सवाल यह है कि क्या सेना इसके महत्व को समझते हुए परिपक्वता का परिचय देगी। यह सवाल इसलिए लाजिमी है, क्योंकि सेना सरकार को इस फैसले की पेचीदगियों और दलीलों के जाल में फंसाती हुई नजर आ रही है। वरना यह क्यों कहा जाता कि सेना में इतने खाली पद नहीं हैं, जिन पर सभी महिलाओं को स्थायी कमिशन दिया जा सके। यह भी तर्क दिया जा रहा है कि इस फैसले को लागू करने से काडर प्रबंधन की समस्या खड़ी होगी तथा शॉर्ट सर्विस कमिशन हासिल करने वाली महिलाएं ही नहीं, बल्कि उनके समकक्ष पुरुष भी स्थायी कमिशन की मांग करेंगे। इससे सेना में अधिकारियों की भर्ती नीति प्रभावित होगी।

हमारे समाज की मानसिकता तो महिलाओं को सेना की वर्दी में देखने की नहीं ही है, सेना की भर्ती में भी महिलाओं के साथ भेदभाव होता है। बीती सदी के नब्बे के दशक में सेना के तीनों अंगों में महिलाओं की भर्ती संबंधी फैसलें में महिला-पुरुष के बीच भेदभाव स्पष्ट तौर पर सामने आया। वर्ष 1992 में अपने यहां सेना के तीनों अंगों में महिलाओं की भर्ती शुरू हो गई थी, लेकिन यह शॉर्ट सर्विस कमिशन के तहत थी। ऐसी महिला अधिकारियों का कार्यकाल पांच से चौदह वर्ष तक होता है। यहां यह जिक्र करना भी प्रासंगिक है कि सरकार ने 2006 की सैन्य नीति में पुरुष व महिला, दोनों की भर्ती शॉर्ट सर्विस कमिशन के तहत करने का फैसला लिया। लेकिन दो साल बाद सेना में महिलाओं को स्थायी कमिशन देने के बढ़ते दबाव के मद्देनजर सरकार को अपनी नीति बदलनी पड़ी और महिलाओं को स्थायी कमिशन देने की मांग मंजूर कर ली। अलबत्ता एक जनवरी, 2009 से लागू यह सुविधा थल सेना के सिर्फ शिक्षा कोर और जज एडवोकेट जनरल के दफ्तर और वायुसेना में एकाउंट, शिक्षा और कानूनी शाखा तक ही सीमित है। सवाल यह है कि इंजीनियरिंग, आयुध कोर, खुफिया शाखा आदि में उन्हें पुरुष सहकर्मियों की तरह स्थायी कमिशन का विकल्प प्रदान क्यों नहीं किया गया?

क्या विडंबना है कि एक तरफ सेना में करीब 10,000 अधिकारियों की कमी है, दूसरी ओर सेना में महिला अधिकारियों के प्रवेश का रास्ता जान-बूझकर रोका जाता रहा है। हमारी सरकार तो सेना के तीनों अंगों मे महिलाओं को लड़ाकू दस्तों के रूप में भर्ती न करने के फैसले पर आज तक कायम है। इस आधुनिक युग में महिलाओं को शारीरिक-मानसिक तौर पर कमजोर मानना शोभा नहीं देता।

(लेखिका स्वतंत्र पत्रकार हैं)

स्थायी कमीशन देश हित में नहीं

विश्व मोहन तिवारी, पूर्व एयर वाइस मार्शल

सेना में लैंगिक समानता और महिला की कार्यक्षमता पर किसी किस्म की उंगली उठाने वाली बात नहीं होनी चाहिए। लेकिन बात जज्बा का नहीं युद्ध से जुड़ी शारीरिक और मनोवैज्ञानिक क्षमता व दक्षता का है। बराबरी का अर्थ यह तो नहीं है कि ओलंपिक में महिला-पुरुषों साथ दौड़ें या कुश्ती के खेल में आमने-सामने भिड़ें। स्थायी कमीशन के संबंध में कोर्ट का आदेशा सेना के नजरिये से व्यावहारिक नहीं माना जा सकता। जल्दबाजी में लिया गया कदम है। अगर महिला अधिकारियों को स्थायी कमीशन दे दिया जाता है तो फिर उन्हें सैन्य इकाइयों के कमांडिंग ऑफिसर्स के तौर पर नियुक्त करना होगा, जो अनुपयुक्त होगा। इससे उन्हें युद्धक भूमिका सौंपने की भी जरूरत पड़ेगी, जो अनुपयुक्त होगा। आखिर लड़ाई से जुड़ी इन्फैंट्री, आमर्ड कॉर्प्स और आर्टीलरी में महिलाओं की नियुक्ति सेना और देश के हक में ठीक नहीं है। यह तर्क कि

सेना के अभियानों की सफलता आज शारीरिक बल पर नहीं बल्कि आधुनिक अस्त्र-शस्त्र व तकनीकों पर निर्भर है, बिलकुल दुरुस्त है फिर भी कई जगह तो ये काम आते ही हैं। मसलन फाइटर प्लेन को कभी कभी संकट की स्थिति में तेजी से घुमाया जाता है तो पायलट पर 8 से 10 जी तक का दबाव पड़ता है, जिसे झेलने के लिए शारीरिक बल जरुरी है। फिर महिलाओं को प्रति महीने अंतःस्राव की प्रक्रिया से गुजरना होता है। इस समय महिलाएं की मनःस्थिति में पड़ने वाला अंतर निर्णय लेने में बाधा उत्पन्न करता है, जबकि पायलट को कई बार सेकेंड में निर्णय लेना होता है। युद्धबंदी बना लेने की स्थिति से जुड़ी कठिनाइयां अलग हैं।

विज्ञान शिक्षा में क्यों पीछे हैं लड़कियां

मुद्दा

अलका आर्य

देश में विज्ञान पढ़ने वाली लड़कियों की संख्या का ग्राफ ऊपर जा रहा है। मगर आज भी विज्ञान पढ़ने वाले लड़कों व लड़कियों की संख्या के बीच का फासला चिंताजनक है। विस्तार में जाएं तो विज्ञान की पढ़ाई करने वाली लड़कियों की बढ़ती तादाद के अनुरूप नौकरियों में महिला वैज्ञानिकों की हिस्सेदारी नहीं बढ़ रही है।

विज्ञान व प्रौद्योगिकी मंत्रालय की एक रपट के अनुसार विज्ञान पढ़ने के बाबजूद महिलाएं घर-गृहस्थी की जिम्मेदारी से बाहर नहीं निकल पा रही हैं। लाइफ सांइस संबंधी विषयों में दाखिला लेने वाली लड़कियों की संख्या 47 फीसद तक पंहुच गई है लेकिन जैव प्रौद्यौगिकी विभाग (डीबीटी) में बीते चार सालों में महिला वैज्ञानिकों की संख्या घटी है। इस विभाग का जिक्र इसलिए किया जा रहा है क्योंकि यहां महिला वैज्ञानिकों के लिए रोजगार के अवसर सबसे ज्यादा हैं। इस सरकारी रपट के अनुसार डीबीटी में वर्ष 2004 में 179 वैज्ञानिक थे व चार साल बाद 2008 में यह संख्या 208 थी लेकिन इस दौरान महिला वैज्ञानिकों की भागीदारी बढ़ने को बजाए घट गई। यह 31.8 फीसद से घटकर 27.4 फीसद रह गई। परमाणु ऊर्जा विभाग में उनकी हिस्सेदारी 16 से घटकर 15 रह गई है। विश्वविद्यालयों के विज्ञान संकाय में भी महिलाएं कम हैं और इसी तरह इन विभागों में नीति निर्माण स्तर पर महिला वैज्ञानिकों की कम संख्या चिंता का विषय है।

विज्ञान एवं प्रौद्यौगिकी विभाग के 60 स्वायत्तशासी संस्थानों में मात्र दो संस्थानों की प्रमुख महिलाएं हैं। विज्ञान अकादमियों की सदस्य संख्या में महिलाओं की हिस्सेदारी पांच फीसद से ज्यादा नहीं है। कौंसिल फॉर साइंटिफिक एंड इंडीस्ट्रियल रिसर्च की देश में 60 प्रयोगशालाएं हैं लेकिन किसी एक की भी निदेशक महिला नहीं है। क्या इसे संयोग कहा जाए या यह मान लिया जाए कि इस संस्थान की महिला वैज्ञानिक निदेशक बनने योग्य नहीं हैं।

विज्ञान के क्षेत्र में ज्यादा महिलाएं क्यो नहीं? यह

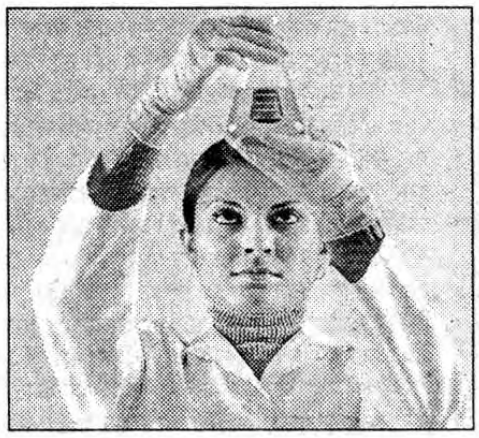

सवाल विचारणीय है। यह एक कड़ुवी हकीकत है कि तमाम आधुनिकता, प्रगतिशीलता, आर्थिक तरक्की के दावों के बावजूद लड़कों की तुलना में कम ही लड़कियां विज्ञान, गणित विषय पढ़ती हैं। उत्तरोत्तर इन विषयों में लड़कियों की संख्या में गिरावट देखी जा सकती है। लड़कियों से पूछा जाए तो वे उन सामाजिक कारणों को सामने रखती हैं जो उनकी स्थिति को अपने नियंत्रण में रख उनके विकास को निर्देशित करने में अहम भूमिका निभाते हैं। एक सामाजिक धारणा यह भी है कि लड़कियों के पास अपनी जैविक संरचना के कारण हार्ड साइंस (भौतिक विज्ञान, रसायनशास्त्र, गणित) जैसे विषयों के अध्ययन की जन्मजात योग्यता का अभाव है। अमेरिका के एक प्रतिष्ठित अखबार में एक लेखिका ने लिखा कि विज्ञान व इंजीनियरिंग में कम लड़कियों की वजह उनकी जन्मजात हीन भावना है। लेखिका का यह भी मानना है कि विज्ञान, गणित, कानून आदि कें पाठ्यक्रमों में लड़कियों की बढ़ती संख्या के बाबजूद शीर्ष स्तर पर बहुत कम महिलाएं दिखाई देंगी। उनके इस लेख की बहुत आलोचना भी हुई। मिशिगंन विश्वविद्यालय के नए अध्ययन के अनुसार जैसे-जैसे किसी पिता की परंपरागत सोच बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे उसकी बेटियों की विज्ञान, गणित में रुचि कम होती जाती है।

दो साल पहले राष्ट्रपति प्रतिभा पाटिल ने अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस के मौके पर महिला वैज्ञानिकों के एक राष्ट्रीय सम्मेलन में विज्ञान के क्षेत्र में सक्रिय अनुसंधान व विज्ञान संकायों में दाखिला लेने वाली लड़कियों की कम संख्या पर चिंता जाहिर की थी। राष्ट्रपति ने सरकार को लड़कियों को इस क्षेत्र में प्रोत्साहित करने वाले कदम उठाने का सुझाव भी दिया। अपने देश की प्रथम महिला राष्ट्रपति की चिंता यह भी है कि क्या देश में मैडम क्यूरी जैसी महिला वैज्ञानिक पैदा की जा सकती हैं?

महिला वैज्ञानिकों की राय में शोध-संस्थानों, कार्यस्थलों पर यौन उत्पीड़न, लैंगिक उत्पीड़न, भेदभाव के अलावा उनकी पारिवारिक जिम्मेवारियों को कम करने वाला सपोर्ट सिस्टम भी उपलब्ध नहीं है। कुछ संस्थान अविवाहित लड़कियों को इस आशंका से नौकरी देने के पक्ष में नहीं होते कि शादी के बाद वह कहीं और चली जाएंगी। ऐसे में उनके प्रशिक्षण पर खर्च रकम व वक्त की भरपाई कैसे होगी? रिश्ता करते वक्त वर पक्ष भी महिला वैज्ञानिक को यह टाइम कंज्यूमिंग जॉब छोड़कर टीचिंग का पेशा अपनाने का दबाव बनाता है। लिहाज़ा ढेरों कारणों के चलते महिलाएं करियर बीच में छोड़ देती हैं। उनका यह आत्मघाती कदम पूरे देश की क्षति है क्योंकि सरकार एक पीएचडी शोधार्थी पर करीब पांच लाख रुपये खर्च करती है। प्रतिभावान महिला वैज्ञानिक जिनके भीतर विज्ञान के क्षेत्र में नए शोध के जरिए समाज की भलाई की क्षमताएं छिपी होती हैं, उनसे समाज महरूम हो जाता है।

औरतों की जागरूकता से कौन डरता है?

प्रसंग | **मल्लिका साराभाई**

जैसे ही नाटक खत्म हुआ, भीड़ पीछे से उठी और पुरुषों पर चिल्लाने लगी, कायरो, तुम लोग यहां बैठकर ये सब देख रहे हो और ये होने कैसे दे रहे हो? ये लोग हमारी औरतों को हमारे ही खिलाफ भड़काने के लिए आए हैं।

छोटा उदेपुर के इस इलाके में हम पहली बार नहीं गए थे। दरअसल इतने सालों हमने काफी बड़े पैमाने पर आदिवासी गांवों में काम किया था। गांव के स्वास्थ्य से जुड़े सवालों, पोषण, लड़कियों की शिक्षा और इसी तरह के अन्य मुद्दों के प्रति उनकी सोच बदलना और उन्हें जागरूक बनाना हमारा उद्देश्य था। इसके लिए युवाओं को प्रशिक्षण देना, उन्हें संप्रेषण और आदान-प्रदान की कलाएं सिखाना और अभिनय के लिए प्रशिक्षित करना हमारे इन प्रयासों का हिस्सा था। पहले कई बार हम रायसा गांव में भी रुके थे। कुछ महीने पहले 'शक्ति' प्रोजेक्ट, जो महिलाओं को उनके कानूनी अधिकारों से अवगत कराने के लिए काम कर रहा था, में काम कर रही हमारे सक्रिय अभिनेताओं की एक टीम ने गांव के एक बुजुर्ग जगनभाई के घर के बाहर नाटक किया। उसके कुछ हफ्तों बाद रिसर्च टीम वहां यह देखने गई कि क्या नाटक के संदेश का कोई प्रभाव पड़ा है, लोगों की सोच और व्यवहार में कोई बदलाव आया है।

वह टीम 20 तारीख को सुबह 11 बजे गांव में पहुंची। उन लोगों ने जगनभाई के घर के सामने अपना डेरा डाला, माइक वगैरह सेट किए और पूरे गांव में ढोल लेकर घूमने और लोगों को नाटक देखने के लिए आमंत्रित करने लगे। जैसे ही भारी संख्या में दर्शक एकत्रित हो गए, उन्होंने अपना नाटक शुरू किया। इस बार विषय था, कम उम्र में विवाह और गर्भावस्था के खतरे। लड़कियों की अभी भी पंद्रह साल की उम्र में शादी हो जाती है और सोलह साल में वे मां बन जाती हैं। बीस की उम्र में वे चालीस की दिखती हैं और साठ की उम्र जैसा महसूस करती हैं। खुद शारीरिक रूप से परिपक्व हुए बगैर मां बनने से जच्चा और बच्चा दोनों के साथ ढेर सारी जटिलताएं होती हैं। दर्शकों में सभी आयु और लिंग के लोग थे। जैसे ही अभिनेताओं ने आखिरी दृश्य पूरा किया, पीछे पुरुषों की बड़ी भीड़ उठी और दर्शकों, खासकर पुरुषों पर चिल्लाने लगी। 'कायरो, तुम लोग यहां बैठकर ये होने कैसे दे रहे हो? ये लोग हमारी औरतों को हमारे खिलाफ भड़काने आए हैं। जब भी हम सभा या भजन के लिए गांव में इकट्ठे होते हैं तो ये औरतें कभी भीड़ में शामिल नहीं होतीं। उन्हें अपनी जगह मालूम है। ये लोग हमारी औरतों को धर्म के खिलाफ भड़का रहे हैं और तुम शांत बैठे हो।' पुरुष उठकर जाने लगे। औरतें चुप रहीं। वे भयभीत दिख रही थीं। एक बूढ़ा आदमी नाटक करने वालों को गाली देने लगा। इससे पहले कि कोई समझ पाता, पुरुष हंसिये और कुल्हाड़ियां लेकर नाटक करने वालों को मारने दौड़े। भड़काने वाले आदमी ने कहा कि वे स्वामीनारायण संप्रदाय से हैं और वे औरतों को अपने पास भी नहीं फटकने देते।

एक आदमी चिल्लाया, 'आप ऐसा नाटक क्यों दिखा रहे हैं? बाल विवाह और कम उम्र में मां बनना तो हमेशा से होता रहा है, होता रहेगा। कोई इसे रोक नहीं सकता।' वह आदमी मारने के लिए तैयार था। वह चिल्लाया, 'हम तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े कर देंगे।' नाटक मंडली वहां से चली गई। मंडली के चले जाने के बाद भी वह व्यक्ति लगातार अपमानजनक बातें करता रहा। उसने धमकी दी कि अगर फिर मंडली ने गांव का रुख किया तो वह सबको सूली पर टांग देगा।

लेखिका को हाल ही में पद्म भूषण मिला है।

आस निरास भई

ऋतु सारस्वत

हाल ही में सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि बलात्कार के मामले में पीड़ित के बयान को हमेशा पूरा सच नहीं माना जा सकता, भले ही सामान्य परिस्थितियों में उसके बयान पर भरोसा किया जाए। खंडपीठ का कहना था कि पीड़ित के बयान को भले ही अहमियत दी जाती हो, लेकिन ऐसी कोई पूर्वधारणा नहीं बनाई जा सकती कि वह आखिरी सत्य बता रही है क्योंकि आरोपों को फौजदारी के दूसरे मामलों की तरह बिल्कुल असंदिग्ध होना चाहिए। न्यायशास्त्र में बलात्कार के जितने रूप और भेद लिखे हैं वे कई बार भूल-भुलैया बनाते हुए नजर आते हैं। आज भी कानूनी प्रक्रिया इतनी जटिल है कि पीड़िता साक्ष्य की जुगाड़ में अपना शील भंग होने का तमाशा बनते हुए देखने पर विवश हो जाती है। नतीजा यह होता है कि वह कानून के गलियारों में कहीं खो जाती है या फिर आत्महत्या कर लेती है। रुचिका गिरहोत्रा ने न्याय की आस में अपने जीवन को खत्म कर लिया और सालों बाद इस देश की सोई हुई आत्मा जाग्रत हुई, जिसकी परिणति अन्यायी के खिलाफ समाज का एकजुट होना हुआ। लेकिन ऐसी बहुत सी रुचिकाएं हैं जो न्याय की आस में, टकटकी लगाए इंतजार कर रही हैं।

इस देश का संवेदनशील वर्ग 'भंवरी देवी' को भुला बैठा है। वही भंवरी देवी जिसने बाल विवाह का विरोध करने के कारण विपदाओं का दंश झेला। 22 सितंबर 92 को अगड़ी जाति के पांच लोगों ने उसके साथ सामूहिक बलात्कार किया था। 24 जनवरी 94 को पांचों आरोपियों को बरी कर दिया गया। जज ने फैसले में कहा कि एक ऊंची जाति का व्यक्ति एक नीची जाति की महिला का बलात्कार कर खुद के सामाजिक सम्मान को चुनौती नहीं दे सकता। ये हमारी धार्मिक परंपराओं के खिलाफ है। यहां तक कि जज ने अपने बाईस पेज के फैसले में एक और तर्क दिया कि यह मामला इसलिए भी सच नहीं लगता कि एक आदमी जिसने अपनी पत्नी के साथ अग्नि को साक्षी मानकर उसकी रक्षा की कसमें खाई हैं वह कैसे अपनी आंखों के सामने उसके साथ ऐसा कुकर्म होने दे सकता है। इस पीड़ादायक वक्तव्य से सिर्फ भंवरी देवी की आत्मा ही घायल नहीं हुई बल्कि साथ ही साथ हर उस महिला की अस्मिता पर प्रश्नचिन्ह लग गया जो दलित है और शोषण का भी।

सभ्य कहे जाना वाला समाज क्यों सिर्फ उच्च वर्ग के साथ घटित घटनाओं पर ही मुखर होता है? क्या संवेदनाएं ऊंच-नीच का भेदभाव करती हैं ? या फिर बलात्कार हमारे लिए मामूली घटना के अलावा और कुछ नहीं है ? ये वे यक्ष प्रश्न हैं जो हमारी ओर मुंह बाए खड़े हैं। भंवरी देवी जैसी न जाने कितनी ही स्त्रियां हैं जो शोषण का शिकार हुई हैं लेकिन खामोश हैं, क्योंकि वे जानती हैं कि यह इस देश की परिपाटी है जहां स्त्री को देवी कहकर संबोधित किया जाता है लेकिन मानव होने का भी अधिकार नहीं दिया जाता। अगर यह सच नहीं है तो क्यों 1992 से लेकर अब तक भंवरी देवी को न्याय नहीं मिला। बकौल भंवरीदेवी-'कोर्ट में केसों की सैकड़ों संख्या होने के कारण मेरा न्याय अभी कतार में है, लेकिन मैं तो यही मानती हूं कि मेरे साथ घिनौने अत्याचार का इंसाफ देश और समाज अभी तक दिला नहीं पाया है। आज भी मेरा नाम, मेरी पहचान और मेरा अतीत मुझे घेरे हुए है।'

मिसाल

डबडबाई आंखों से भंवरी बताती हैं, 'मेरे आवाज उठाने के बाद सामाजिक बदलाव तो हुआ है लेकिन मेरा खुद का जीवन पहले से भी कठिन हो गया है।'

डबडबाई आंखों से भंवरी बताती हैं,' मेरे आवाज उठाने के बाद सामाजिक बदलाव तो हुआ है लेकिन मेरा खुद का जीवन पहले से भी कठिन हो गया है।' भंवरी वह मिसाल है जिन्होंने सामाजिक ढकोसलों, कुत्सित रीतियों और सस्ते छिछले स्वार्थ के खिलाफ लड़ाई लड़ी। भंवरी के साथ हुई ज्यादती का हवाला देते हुए सुप्रीम कोर्ट ने 13 अगस्त 1997 में विशाखा गाइड लाइन जारी की जिसमें कहा गया कि कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न मानवाधिकार का उल्लंघन है। यह कृत्य जीने और स्वतंत्रता के अधिकार के मूलभावना के खिलाफ है। यह फैसला महिला सशक्तिकरण की दिशा में मील का पत्थर सिद्ध हुआ लेकिन भंवरी आज भी न्याय की राह तक रही है। आमजन से लेकर खास तक संज्ञाशून्य हो चुके हैं या स्वहित में इतने मशगूल हैं कि समाज में महिलाओं के विरुद्ध हो रही यह घातक हिंसा उसके लिए सिर्फ समाचार से ज्यादा कुछ नहीं है।

उत्पीड़ित नारी (भंवरी) का सबसे बड़ा प्रतीक बनाकर जो संगठन और राजनेता उसे संयुक्त राष्ट्र महिला सम्मेलन में बीजिंग (चीन) ले गए थे, वे भी तालियों की गड़गड़ाहट के बीच भंवरी की कराहों और सिसकियों को भुना आए। खुद को विश्व का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश मानने वाला भारत आज कठघरे में खड़ा है। भंवरी की लड़ाई सिर्फ अगर एक स्त्री की लड़ाई तक सीमित हो कर रह गई तो भारत स्वयं को कभी मानवाधिकारों का अनुयायी घोषित कर पाने का अधिकारी नहीं होगा। अपने स्वार्थ के लिए, महिला सशक्तिकरण की पैरवी करने वाले राजनीतिक लोग कभी यह जान ही नहीं पाए कि अपमानित होने की पीड़ा क्या होती है। महिलाओं और दलितों की पीड़ा को मुद्दा बना कर अपने स्वार्थ को साधने वाले, अगर स्वयं से फुर्सत पा सकें तभी वे उन तंग गलियारों में पहुंच सकेंगे जहां महिलाएं अपनी अस्मिता कभी परंपरा के नाम पर तो कभी बदले का मोहरा बन कर लुटा रही हैं। यह देश उस न्याय व्यवस्था की बाट जोह रहा है, जहां कमजोर और पीड़ितों को न्याय मिले और शोषणकर्त्ता को त्वरित गति से दंड। ❑

अभी भी भंवर में ही फंसी हैं भंवरी देवी

भटेरी में भटकी उम्मीद 18 साल से न्याय का इंतजार, जातिवादी व्यवस्था से लड़ने वाली वीरांगना के साथ आज कोई नहीं

लक्ष्मी प्रसाद पंत | (भटेरी) जयपुर

भंवरी देवी की खामोश और गुमसुम आंखों में दुख और गुस्सा दोनों है। उन आंखों में 18 साल से न्याय का इंतजार तो है ही, शिकायत भी है कि जिस जातिवादी व्यवस्था को बदलने के लिए उसे तब वीरांगना कहकर पुकारा गया था, उसी समाज ने अब उसे इस लड़ाई में अकेला छोड़ दिया है।1992 से लेकर अब तक राज्य में चार सरकारें बदल चुकी हैं। सरकारों ने भंवरी को अपने सामाजिक हितों को साधने का माध्यम तो बनाया, लेकिन कभी उसके घर भटेरी जाकर यह जानने की कोशिश नहीं की कि वह आज किन हालात में है। यह स्थिति तब है जब राजधानी जयपुर से भंवरी का गांव महज 50 किलोमीटर दूर है। विडंबना यह भी है कि जिस साथिन संस्था के लिए उसने बाल विवाह का विरोध करने के कारण विपदाओं का दंश झेला था, उसके कर्ताधर्ताओं ने भी उसे उचित सम्मान नहीं दिया। हर सामाजिक ढकोसलों, सस्ते-छिछले स्वार्थ और कुत्सित रीति के खिलाफ भंवरी की लड़ाई को साथिन ने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर तो भुनाया। लेकिन जीविका चलाने के लिए उसे 1992 में जो 200 रुपए मिलते थे, वो अब 2010 में बढ़कर महज एक हजार ही हो पाए हैं। यही नहीं, उत्पीड़ित नारी का सबसे बड़ा प्रतीक बनाकर जो संगठन और राजनेता उसे संयुक्त राष्ट्र महिला सम्मेलन में बीजिंग (चीन) ले गए थे, उनमें से भी अधिकांश ने अब भंवरी से किनारा कर लिया है। अपने अतीत की छाया से मुक्ति के लिए भंवरी आज भी न्याय का इंतजार कर रही है। बकौल भंवरी, कोर्ट में केसों की सैकड़ों संख्या होने के कारण मेरा न्याय अभी कतार में है, लेकिन मैं तो यही मानती हूं कि मेरे साथ हुए घिनौने अत्याचार का इंसाफ देश और समाज अभी तक दिला नहीं पाया है। आज भी मेरा नाम, मेरी पहचान और मेरा अतीत मुझे घेरे हुए हैं। डबडबाई आंखों से फिर भंवरी बताती हैं- मेरे आवाज उठाने के बाद सामाजिक बदलाव तो हुआ है, लेकिन मेरा खुद का जीवन पहले से भी कठिन हो गया है।

भंवरी के कारण आया ऐतिहासिक फैसला

भंवरी देवी को भले ही अभी तक न्याय नहीं मिल पाया है लेकिन भंवरी के साथ हुई ज्यादती का हवाला देते हुए सुप्रीम कोर्ट ने 13 अगस्त 1997 में विशाखा गाइड लाइन जारी की जिसमें कहा गया कि कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न मानवाधिकार का उल्लंघन है। यह कृत्य जीने और स्वतंत्रता के अधिकार की मूल भावना के खिलाफ है। यह फैसला महिला सशक्तिकरण की दिशा में मील का पत्थर बना।

कब क्या हुआ

22 सितंबर 1992: बाल विवाह का विरोध करने पर भंवरी देवी से दुष्कर्म।

24 जनवरी 1994 : पांच आरोपियों का सीबीआई के सामने आत्मसमर्पण।

15 नवंबर 1995 : निचली अदालत ने पांचों आरोपियों को बरी किया

18 फरवरी 1996: महिला संगठन और राज्य सरकार इस फैसले के खिलाफ हाईकोर्ट पहुंचे।

2010: फैसले का इंतजार

ऑनर किलिंग पर जागी सरकार

अलका आर्य

लेखिका स्वतंत्र पत्रकार हैं।

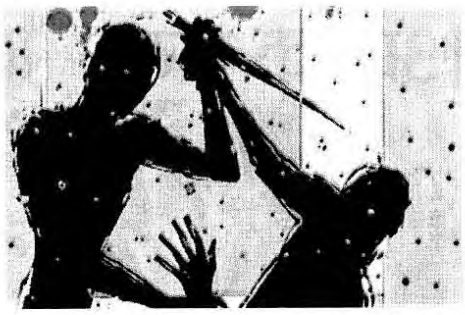

दोषी को सजा देने के साथ-साथ ऑनर किलिंग को बढ़ावा देने वालों पर भी शिकंजा कसा जाएगा। इशारा युगलों की हत्या का फरमान जारी करने वाली जाति पंचायतों की ओर है।

केंद्र सरकार ने ऑनर किलिंग जैसी सामाजिक समस्या को दूर करने के लिए भारतीय दंड सहिता (आईपीसी) में संशोधन करने का मन बना लिया है। संशोधन के बाद ऑनर किलिंग के दोषी को उम्रकैद से लेकर फांसी की सजा तक हो सकती है। दोषी को सजा देने के साथ-साथ ऑनर किलिंग को बढ़ावा देने वालों पर भी शिकंजा कसा जाएगा। इशारा युगलों की हत्या का फरमान जारी करने वाली जाति पंचायतों की ओर है। इसके अलावा साक्ष्य अधिनियम में भी संशोधन किया जाएगा, जिसमें यह साबित करने की जिम्मेदारी अभियुक्त की होगी कि उसने ऑनर किलिंग नहीं की है।

मगर देश के प्रमुख महिला संगठन केंद्र के गृह व कानून विभाग की आईपीसी में संशोधन की कोशिश को एक ऐसी कवायद के रूप में देख रहे हैं, जिसके दायरे में ऑनर क्राइम का मुद्दा पूरी समग्रता के साथ नजर नहीं आता। उनमें इस बात को लेकर भी काफी नाराजगी है कि गृह मंत्रालय ने उनकी ऑनर क्राइम के मसले पर अलग से कानून बनाने की मांग को नजरअंदाज कर आईपीसी में ही संशोधन करने के संकेत दिए हैं।

गौरतलब है कि अपने देश में पश्चिमी उत्तरप्रदेश, हरियाणा, राजस्थान, पंजाब आदि राज्यों के कुछ इलाकों में एक ही गोत्र में प्यार, शादी करने वाले युवक-युवती व उनके परिवारजनों को जातिगत पंचायतों का अपमान, शारीरिक, मानसिक यंत्रणाएं सहनी पड़ती हैं। कइयों की तो हत्या तक कर दी जाती है। कुछ पंचायतों के इस उग्र विरोध के पीछे दलील यह है कि पुरानी सामाजिक मान्यता के तहत एक गांव में उसी गांव के गोतियों की बहू नहीं आ सकती, बेशक उनका गोत्र अलग-अलग ही क्यों न हो। ये पंचायतें एक ही गोत्र में शादी करने के भी सख्त खिलाफ हैं।

हरियाणा में जहां बीते एक हफ्ते से गोत्र विवाद के कारण दो दंपतियों के खिलाफ पंचायती फरमान जारी करने की खबरें बराबर छप रही हैं, उसी हरियाणा के एक गांव में करीब डेढ़ साल पहले एक युवती व उसके प्रेमी की युवती के नजदीकी रिश्तेदारों ने हत्या कर दी व हत्या के बाद दोनों के शव घर के बाहर 'डिस्पले' भी कर दिए, ताकि दूसरे लोग इससे सबक ले सके। ऑनर किलिंग का मसला सिर्फ यहीं तक सीमित नहीं है, बल्कि अंतरजातीय विवाह के विरोधी भी कई मर्तबा यह अपराध करते देखे गए हैं।

दरअसल सरकारी रिकॉर्ड में अपराध की इस श्रेणी का कोई वजूद ही नहीं है, यहां तक कि इस प्रवृत्ति को पहचानने से भी इंकार किया गया है। ऐसी घटनाओं के सही आंकड़े तक उपलब्ध नहीं हैं, क्योंकि वे सामान्य अपराधों की श्रेणी में दर्ज होते हैं व आईपीसी की सामान्य धाराएं लगती है।

मौजूदा समय में ऐसी हत्याओं को आईपीसी की धारा 302 के तहत दर्ज किया जाता है। दरअसल, ऑनर क्राइम/किलिंग की प्रवृत्ति बढ़ रही है, जो यह बताती है कि आधुनिकता के सारे चलन और स्वीकार के बावजूद लड़की को लेकर व स्त्री-पुरुष संबधों को लेकर वह सामंती जिद बरकरार है, जो अपनी दी हुई मर्यादाएं लांघी जाती देख तलवार-बंदूक उठा लेती है और किसी की हत्या में भी हिचकती नहीं। इस सामाजिक समस्या में वृद्धि व इसके खिलाफ कानून बनाने के लिए जो राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय दबाब पड़ा, उसके मद्देनजर केंद्र सरकार अब हरकत में आई है। कानून मंत्रालय ने ऑनर किलिंग के तहत होने वाली हत्या पर अलग से कानून बनाने की बजाय आईपीसी में संशोधन करने का जो सुझाव दिया है, उसके पीछे दलील यह है कि अलग से कानून बनने पर इस तरह के अपराध से जुड़े लोगों को अनावश्यक रूप से महिमामंडित करने का मौका मिलेगा।

कानून मंत्रालय का यह भी मानना है कि ऐसी हत्या को दूसरी हत्याओं से अलग करना मुश्किल है, लिहाजा सरकार ने 150 साल पुरानी आईपीसी में संशोधन कर ऑनर किलिंग को संगीन अपराध की श्रेणी में डालने की मंशा जाहिर की है। इस सरकारी मंशा पर सवाल खड़े करने वालों की राय में सरकार को ऑनर क्राइम की समस्या से निपटने के लिए एक अलग कानून बनाना चाहिए, आईपीसी में संशोधन करना ज्यादा कारगर नहीं होगा। अलग कानून बनाने के खिलाफ दी गई सरकारी दलीलों में कोई दम नहीं है। मसलन यह कहना कि ऐसा करने से अपराध से जुड़े लोगों को अनावश्यक रूप से महिमामंडित करने का मौका मिलेगा तो यह दलील हर अपराध के खिलाफ कानून बनाने के संदर्भ में दी जा सकती है। इसके अलावा जो लोग ऑनर क्राइम में शामिल होते हैं, यानी प्रेम विवाह करने वालों व उनके परिवारजनों को धमकाते हैं, उनको भी सख्त सजा मिलनी चाहिए। इस मसले को सिर्फ हत्या के पहलू से देखने की सरकारी सोच घातक है।

aryaa2001@rediffmail.com

सम्मान की खातिर हत्या पर सख्त हुई केंद्र सरकार

आईपीसी में संशोधन की तैयारी, ऑनर किलिंग को अलग से किया जाएगा परिभाषित।

पंकज कुमार पांडेय | नई दिल्ली

केंद्र सरकार देश में कथित तौर पर बढ़ते सम्मान की खातिर हत्या (ऑनर किलिंग) को रोकने के लिए भारतीय दंड संहिता (आईपीसी) में संशोधन करने की तैयारी में है। इस मामले में केंद्रीय गृह मंत्रालय के प्रस्ताव को कानून मंत्रालय ने हरी झंडी दे दी है। गृह मंत्रालय ने परिवार, जाति, धर्म और क्षेत्र के सम्मान के नाम पर होने वाले अपराधों पर अंकुश लगाने के लिए कानून मंत्रालय से सुझाव मांगे थे।

एक अधिकारी के मुताबिक, इस तरह के जघन्य अपराध ज्यादातर प्रेम विवाह के मामलों में परिवार या पचायतों के राजी न होने की स्थिति में सामने आते हैं और यह प्रवृत्ति देश के अलग अलग हिस्सों में लगातार बढ़ी है। दोनों मंत्रालय मिलकर आईपीसी में संशोधन का प्रारूप तय करेंगे। सूत्रों के मुताबिक, आगामी बजट सत्र में इस दिशा में ठोस कवायद सामने आ सकती है।

पहले इस संबंध में अलग से कानून बनाने के लिए भी मंत्रालयों के बीच चर्चा हुई, लेकिन सहमति नहीं बनने की वजह से आईपीसी में संशोधन करने की ही बात तय हुई है। ऑनर किलिंग के मसले पर कुछ दिन पहले ही केंद्रीय गृहमंत्री पी चिदंबरम ने कानून मंत्री वीरप्पा मोइली को पत्र लिखकर सुझाव मांगा था कि इस तरह के बढ़ते मामले को रोकने के लिए किस तरह से कड़े कदम उठाए जा सकते हैं। दो तरह के सुझाव सामने आए थे कि इस मसले पर अलग से कानून बने या फिर आईपीसी में संशोधन करके ऑनर किलिंग को परिभाषित किया जाए। कानून मंत्री मोइली ने मंत्रालय के स्तर पर चर्चा करने के बाद ऑनर किलिंग के तहत होने वाली हत्या पर अलग से कानून बनाने के बजाए आईपीसी में संशोधन करने का सुझाव दिया। कानून मंत्रालय का तर्क है कि इस मसले पर अलग से कानून बनने पर इस तरह के अपराध से जुड़े लोगों को अनावश्यक रूप से महिमामंडित करने का मौका मिलेगा। कानून मंत्रालय का यह भी मानना है कि ऑनर किलिंग के तहत होने वाली हत्या को दूसरे तरह की हत्याओं से अलग करना मुश्किल है।

हालांकि दोनों मंत्रालयों ने महसूस किया है कि इस तरह की बढ़ती प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने के लिए बेहद सख्त कदम उठाने की जरुरत है, लिहाजा आईपीसी में संशोधन के जरिए सख्ती का रास्ता तलाश किया जा रहा है। मौजूदा समय में इस तरह की हत्याओं को आईपीसी की धारा 302 के तहत मामला दर्ज किया जाता है।

ऑनर किलिंग रोकने की सरकारी पहल

मुद्दा

अलका आर्य

हाल में हरियाणा में राज्य सरकार ने घर से भाग कर विवाह करने वाले जोड़ों के लिए अस्थाई शरणस्थलों की व्यवस्था की है। इस पहल के पीछे सरकार की कोशिश ऐसे जोड़ों को संरक्षण और सुरक्षा प्रदान करना है ताकि ऑनर किलिंग की घटनाओं में कमी लाई जा सके। ये अस्थाई शरणस्थल राज्य के हरेक जिले की पुलिस लाइन में बनाये गये हैं, जो पुलिस अधीक्षकों की निगरानी में काम करेंगे। कई मर्तबा घर परिवार के लोग या नाते-रिश्तेदार अपनी जाति-समाज के नियमों को सर्वोपरि मानते हुए उनका उल्लघंन कर शादी करने वाले जोड़ों को जान से मारने तक की धमकियां ही नहीं देते बल्कि मौका मिलने पर परिवार की तथाकथित इज्जत बचाने के लिए उनकी हत्या भी कर देते हैं।

नवविवाहित जोड़ों पर इस प्रकार का खतरा मंडराता देख और ऐसी घटनाओं में हो रही लगातार वृद्धि के चलते अपनी छवि सुधारने के लिए राज्य सरकार ने यह फैसला लिया है। सरकारी सोच यह है कि जब तक परिवार के विरोधी तेवर ढीले न पड़ जाएं तब तक ऐसे नवविवाहित युगलो को जान बचाने के लिए इधर-उधर भागने की बजाए पुलिस के संरक्षण में रहना एक सुरिक्षत विकल्प है। जब मामला ठंड़ा पड़ जाए तो वे अपने घर-परिवार से दूर कहीं और जाकर अपना जीवन बसर कर सकते हैं।

इस मामले मे हरियाणा से बिहार की ओर रुख करें तो यह जानकारी मिलती है कि बीते कुछ महीनों में बिहार में पुलिस वालों ने राज्य के अलग-अलग इलाकों में आठ ऐसे विवाह संपन्न कराये हैं, जहां परिवार वाले विवाह के बिल्कुल पक्ष में नहीं थे। हरियाणा व बिहार की इस पहल में कई संभावनाएं तलाशी जा रही हैं। मसलन प्रेमी युगल सम्मान और सुरक्षा का जीवन जी सकेंगे। इस पहल के माध्यम से लड़कियों के अपहरण या चुपके से सह पलायन जैसे

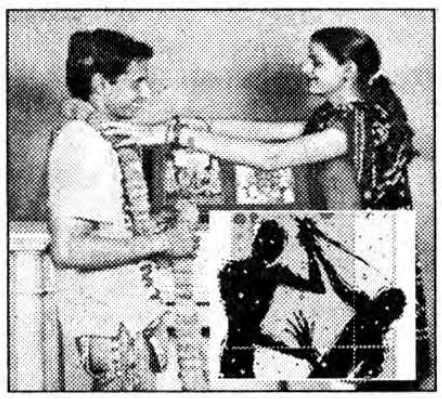

मामलों में भी कमी आ सकती है। यही नहीं, ऑनर किलिंग के नाम पर कभी-कभी चुपके से लड़कियों की हत्या तक कर दी जाती है और इससे इसमें भी कमी आने की संभावना दिखती है।

हरियाणा के करनाल शहर में एक ऐसा सरकारी नारी आश्रय केंद्र है, जहां राज्य की सीमा के भीतर सड़कों, गलियों में घूमती बेसहारा, अकेली लड़कियों और महिलाओं को आसरा दिया जाता है। इस राज्य में इस तरह का यह अकेला केंद्र है और यहां सरकार की कोशिश उनके परिवार वालों से संपर्क साध उन्हें उनके घर भेजने की होती है। इसी आश्रय केंद्र की एक अधीक्षक ने एक मुलाकात के दौरान बताया था कि कई मामलों में परिवार वाले उनकी इच्छा के खिलाफ शादी करने वाली लड़कियों को रात के वक्त किसी बहाने से यमुना नहर के पास ले जाते हैं और वहीं कत्ल कर नहर में फेंक आते हैं। ऐसे कत्ल जिनका न तो कोई गवाह मिलता है और न ही वह पुलिस के रिकार्ड में दर्ज हो पाते हैं। इस राज्य में जाति पचायतों के निशाने पर विवाह करने वाले ऐसे जोड़े होते हैं जिन्होंने या तो सगोत्रीय या गैरजाति में विवाह करके अपनी पारंपारिक सामाजिक मान्यतायों का उल्लघन किया है।

गौरतलब है कि बीते साल (अप्रैल2009) कैथल जिले के करोड़ गांव में एक ही गोत्र के मनोज व बबली को इसलिए मौत के घाट उतार दिया गया था क्योंकि दोनों ने पंचायत के विरोध के बाबजूद शादी कर ली थी। इसी तरह दो साल पहले करनाल जिले के बरल्ला गांव में भी एक प्रेमी जोड़े की पंचायत के इशारे पर हत्या कर दी गई थी। हाल में रोहतक जिले के खेड़ी गांव में पंचायत ने शादी के तान साल बाद सतीश व कविता को भाई-बहन बननें का फरमान सुना दिया।

यहां जाति व खाप पचायतों का आंतक किस कदर छाया हुआ है, इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि अब तक अंदाजन खाप पंचायतों के खिलाफ हरियाणा व पंजाब में 3800 से अधिक शिकायतें दोनों राज्यों की अदालतों में की गई हैं। ऐसी पृष्ठभूमि वाले राज्य में सरकार की ओर से भाग कर शादी करने वाले जोड़ों के लिए अस्थाई शरणस्थल बनाने वाली पहल बहुत ही अहमियत रखती है लेकिन यह कितनी सार्थक साबित होगी, यह सवाल इससे भी महत्वपूर्ण है। यह सवाल इसलिए किया जा रहा है क्योंकि करीब छह सात साल पहले उत्तर प्रदेश के मुजफरनगर जिले में जिला प्रशासन द्वारा प्रेम विवाह करने वालों की मदद के लिए स्पेशल पुलिस सेल का गठन किया था जो एक साल बाद ही निष्क्रिय हो गया था। जिला प्रशासन क्यों का कोई संतोषजनक जबाव नहीं दे पाया। लिहाजा हरियाणा के ये अस्थाई शरणस्थल राजनीतिक व प्रभावशाली समुदायों का दबाव झेले बिना कैसे और कब तक काम करते रहेंगे, यह बड़ा सवाल है। इसका जवाब आने वाला वक्त ही दे पाएगा।

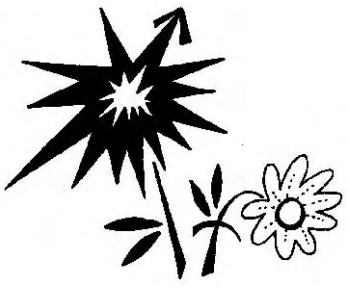

निशुल्क प्रतियों के लिए संपर्क करें -

जागोरी बी-114 शिवालीक मालवीय नगर, नई दिल्ली-110017, फ़ोनः 26691219, 26691220

email: resource@jagori.org/jagori@jagori.org

www.jagori.org